उठो! जागो!! अपने अन्दर निहित
देवत्व को व्यक्त करो।
वर्ष ३१ अंक ३
विवेक ज्योति
हिन्दी त्रैमासिक
शिकागो धर्ममहासभा शताब्दी विशेषांक

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

शिकागो धर्ममहासभा शताब्दी विशेषांक

जुलाई-अगस्त-सितम्बर
* १९९३ *

प्रबन्ध सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी त्यागात्मानन्द

वार्षिक १५/- (वर्ष ३१, अंक ३) यह अंक ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २५२६९

अनुक्रमणिका

“आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च”

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३१] जुलाई-अगस्त-सितम्बर [अंक ३

★ १९९३ ★

विवेकानन्द-स्तुति

वेदान्ततत्त्वमुपदिश्य नवप्रकाशं
विश्वं तमः प्रसरसंगतमुद्दिधीर्षुः।
यः सप्रभं सुकृतवान् कृतवांश्चिदात्म-
स्नेहान्वितो विजयतां स विवेकदीपः॥

अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए विश्व का उद्धार करने की इच्छा से जिन पुण्यवान यति ने वेदान्त के आत्मतत्त्व का नवीन आलोक फैलाया, चैतन्यमय आत्मबोध के तेल से परिपूर्ण उन विवेकदीप रूपी तेजस्वी विवेकानन्द की जय हो।

—त्र्यम्बक शर्मा भण्डारकर

वन्दना

'मधुप'

(राग–मधुवन्ती, ताल-कहरवा)

हे ध्यानसिद्ध शतदल लोचन।
हरने आए अज्ञान तमस
करने आए भवदुख मोचन।।हे ।।

लेकर वेदों का ज्ञान अहो
तुम ऋषिमण्डल से आए हो।
तव अनुपम जीवन कर्म देख
मोहित विस्मित पुलकित जग जन।।हे ।।

सन्मार्ग सनातन दिखलाया
सेवा का दर्शन सिखलाया।
मधुमय सुगन्ध तव वाणी का
अब व्याप रहा क्रमशः त्रिभुवन।।हे ।।

द्रुत भोगवाद हो रहा म्लान
करता नवयुग तव कीर्तिगान।
चरणों में लाया हूँ मैं भी
स्वीकार करो मेरा जीवन।।हे ।।

स्वामी विवेकानन्द और राष्ट्रीय चेतना

सम्पादकीय

अपनी परिव्रज्या के दिनों में एक बार वाराणसी से विदा लेते हुए स्वामीजी ने कहा था, "अबकी बार जब मैं लौटूँगा, तो समाज पर बम की भाँति फट पड़ूँगा और समाज कुत्ते की भाँति मेरा अनुसरण करेगा।" इसके पश्चातकई वर्षों तक उन्होंने अपने मित्रों, परिचितों तथा गुरुभाइयों से नाता तोड़कर उत्तरी और पश्चिमी भारत का एकाकी भ्रमण किया। परन्तु प्रज्वलन्त अग्नि को क्या कपड़ों से ढँककर छिपाया जा सकता है? वे जहाँ भी जाते, लोग उनके तेजस्वी व्यक्तित्व तथा युगान्तरकारी विचारों से मुग्ध होकर उनके इर्द-गिर्द जमा होने लगते, परन्तु वे विश्व के मंच पर तड़ित के समान ही प्रकट होना चाहते थे, अतः लोकप्रियता बढ़ते ही वे आगे को प्रस्थान कर जाते, परन्तु साथ ही छोड़ जाते सबके हृदय में एक अमिट छाप! आखिरकार वह दिन आ पहुँचा जबकि उन्हें एक धमाके के साथ विश्व में प्रकट होना था।

अब से ठीक सौ वर्ष पूर्व १८९३ ई. के सितम्बर माह में अमेरिका की शिकागो नगरी में एक विराट धर्ममहासभा का आयोजन हुआ था। सभी धर्मों को अपने प्रतिनिधि भेजकर उस सभा में अपने विचार रखने का आमंत्रण मिला था। अनेक धर्मों ने वहाँ अपने प्रतिनिधि भेजे भी थे। बौद्ध, जैन तथा थियासाफी आदि भारतीय विचारधाराओं के प्रतिनिधि वहाँ पहुँचे थे, परन्तु समस्त धर्मों की जननी सनातन हिन्दू धर्म का कोई भी औपचारिक प्रतिनिधि सभा में भाग लेने नहीं जा सका, क्योंकि उन दिनों हिन्दू समाज में प्रचलित परम्परा के अनुसार समुद्र पार जाना एक बड़ा गर्हित पाप था। हिन्दू समाज में किसी संगठन अथवा व्यवस्था का पूर्ण अभाव था। हिन्दू धर्म विभिन्न समप्रदायों में बँटा, अपनी पुरातन रूढ़ियों तथा सामाजिक

आचारों के साथ दृढ़तापूर्वक चिपका हुआ था। शताब्दियों से चले आ रहे इसलामी तथा पश्चिमी संस्कृति के आक्रमण से आत्मरक्षार्थ घोंघे के समान वह अपने खोल में आश्रय ले रहा था। प्रति-आक्रमण तथा विश्व के सम्मुख स्वयं को स्थापित करने की क्षमता वह खो चुका था। नियति ने सम्भवतः इसीलिए इस ऐतिहासिक सम्मेलन की व्यवस्था की थी, ताकि सनातन हिन्दू संस्कृति अपने सँकरे खोल मे बाहर निकलकर विश्व को अपनी महिमा से अवगत कराए और आधुनिक समस्याओं के अपने प्रचीन समाधान सबके सम्मुख रख दे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक अख्यात युवा हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द असंख्य कठिनाइयों का सामना करते हुए उस महासभा में भाग लेने जा पहुँचे थे। ११ सितम्बर के उनके संक्षिप्त परिचयात्मक व्याख्यान ने ही उन्हें महासभा का केन्द्रबिन्दु बना दिया। विश्ववासी उनके मुख से हिन्दू धर्म तथा भारतीय संस्कृति की व्याख्या सुनकर विस्मित तथा मुग्ध हुए। इस विषय में पाश्चात्य देशों में फैली हुई भ्रान्त धारणाओं का उन्मूलन करने के लिए, महासभा की समाप्ति के बाद भी कई वर्षों तक वे वहां के विभिन्न नगरों का दौरा करते हुए प्रचार कार्य में निरत रहे। तत्पश्चात् जब वे भारत लौटे तो शताब्दियों से पदाक्रान्त, अपमान-जर्जर तथा पराधीनता की बेड़ियों में जकड़े भारत ने उन्हें सिर-आंखों पर उठा लिया। सम्पूर्ण हिन्दू जाति में एक नई चेतना, नई उमंग तथा आत्मविश्वास का संचार हुआ। उसके बाद भारत ने जो उठना आरम्भ किया तो फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा।

हिन्दू धर्म के लिए उनके ऐतिहासिक कार्य का वर्णन करते हुए भगिनी निवेदिता लिखती हैं—"शिकागो धर्ममहासभा में जब स्वामीजी ने अपना भाषण आरम्भ किया, तब उनका विषय था 'हिन्दुओं के प्राचीन धार्मिक विचार', पर जब उनका व्याख्यान समाप्त हुआ तो आधुनिक हिन्दू धर्म की सृष्टि हो चुकी थी। उनके माध्यम से सम्पूर्ण भारतवर्ष को अपनी भावधारा का महत्व आंकने की क्षमता

प्राप्त हुई। ...भारत की धार्मिक चेतना ने ही उनके द्वारा पश्चिम में स्वयं को अभिव्यक्त किया।" शताब्दियों से निरन्तर अपनी परम्पराओं, धर्म तथा संस्कृति पर आक्षेप तथा आक्रमण को सहते तथा सामना करते हुए हिन्दुओं के मन में एक तरह की हीन भावना भी घर कर गई थी। स्वामीजी ने भारतवासियों को झकझोर कर उनकी दीर्घकालव्यापी सम्मोहन की निद्रा से जगाने का प्रयास किया, उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व तथा आत्मविश्वास वापस लौटाया। भारतीय चेतना को इस सशक्त आह्वान तथा उसके फल का वर्णन करते हुए सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विचारक तथा नोबल पुरस्कार प्राप्त साहित्यकार मोशियो रोमाँ रोलाँ लिखते हैं — "वह सन्देश मानों राम, कृष्ण और शिव की भूमि के जागरण का शंखनाद था, अमर आत्मा का वीरत्व को युद्ध में मार्च करने का आह्वान था। एक सेनानायक के रूप में वे अपने अनुगामियों को अपनी समरनीति समझाते हुए एक साथ उठ खड़े होने को पुकार रहे थे।...झंझावात आया और चला गया; पर अपने पीछे सर्वत्र वह आत्मशक्ति, मानव में प्रच्छन्न ब्रह्म तथा उसकी अनन्त सम्भावनाओं के प्रति अदम्य निष्ठा का अग्निप्रपात फैलाता गया। ...क्या मृतक में प्राणसंचार हुआ? क्या भारत ने अपने सन्देशदाता के शब्दों पर रोमांचित होकर उनकी आशाओं को पूर्ण किया? ...सपनों में आच्छन्न, पूर्वग्रह से ग्रस्त और अल्प उद्यम के भार को भी सह पाने में असमर्थ एक राष्ट्र की आदतों को क्षण भर में बदल पाना असम्भव था, परन्तु आचार्यदेव के कठोर आघात ने उसे पहली बार करवट बदलने को मजबूर किया। स्वप्न में डूबे भारत को पहली बार अपने ब्रह्मबीज के साथ आगे कूच करने का वीरतापूर्ण शंखनाद सुनाई पड़ा। वह इसे कभी विस्मृत नहीं कर सका।" पिछले सौ वर्षों के भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि इस दौरान हमारे देश में होनेवाले समस्त क्रियाकलापों तथा घटनाओं पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से स्वामीजी के विचार छाए रहे।

अपने जीवन के सांध्यकाल में स्वामीजी कहा करते थे, "मैं जो कार्य सम्पन्न कर गया, वह आने वाले पन्द्रह सौ वर्षों के लिए यथेष्ट होगा। ...आगामी कई शताब्दियों तक किसी को कुछ सोचने की आवश्यकता नहीं। मेरे विचारों पर ही उँगली फिराने मात्र से काम चल जाएगा।" अतएव स्वामीजी का युग तो वस्तुतः अभी आने का है। आज भी अनेक सामाजिक संगठन तथा राजनीतिक दल उनके सन्देश के कुछ अंशों को लेकर आत्मसात करने तथा उन्हें कार्यरूप में परिणत करने के प्रयास में रत हैं। भविष्य में भारत को निश्चित रूप से स्वामी विवेकानन्द में ही अपना राष्ट्रीय आदर्श ढूँढ़ना होगा और जितना शीघ्र यह हो, उतना ही वह हमारे तथा विश्व के हित में होगा। स्वामीजी की भारत-परिक्रमा तथा शिकागो धर्ममहासभा में उनके योगदान की शताब्दी के पुनीत अवसर पर 'विवेक-ज्योति' के इस विशेषांक के माध्यम से उक्त घटनाओं का किंचित विवरण, स्वामीजी के विचारों के कुछ अंश तथा आधुनिक भारत के लिए उनकी प्रासंगिकता विषयक कुछ सामग्री प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

बलिदान करो

आओ,

मनुष्य बनो। कूपमंडूकता छोडो और बाहर दृष्टि डालो। देखो अन्य देश किस तरह आगे बढ़ रहे हैं। क्या तुम्हें मनुष्य से प्रेम है? यदि 'हाँ', तो आओ, हम लोग उच्चता और उन्नति के मार्ग में प्रयत्नशील हों। पीछे मुडकर मत देखो; अत्यन्त निकट और प्रिय सम्बन्धी रोते हों, तो रोने दो, पीछे देखो ही मत। केवल आगे बढते जाओ।... भारतमाता कम से कम एक हजार युवकों का बलिदान चाहती है- मस्तिष्कवाले युवकों का पशुओं का नही।

— स्वामी विवेकानन्द

हमारी मातृभूमि और उसका भविष्य

स्वामी विवेकानन्द

(वर्तमान भारत में जिस प्रकार तरह तरह की ध्वंशात्मक तथा रचनात्मक शक्तियाँ प्रचण्ड रूप से क्रियाशील हैं, उन्हें देखकर हम कोटि कोटि भारतवासियों के मन में यह प्रश्न उठा करता है कि आखिर हमारी मातृभूमि का भविष्य क्या होगा? स्वामीजी इस युग के महान विचारक तथा मंत्रद्रष्टा थे। उनके ऋषि-नेत्रों के समक्ष भारत के स्वर्णिम भविष्य का खाका सजीव हो उठा था। एक महान इतिहासज्ञ के रूप में उन्होंने भारत के तत्कालीन अध:पतन कारणों की विवेचना की तथा निवारण के उपाय सुझाए। शिकागो में प्रदत्त उनके प्रथम सन्देश की शताब्दी के अवसर पर आइए हम उनके भारत-विषयक विचारों पर चिन्तन तथा इसके पुनर्निर्माण में यथासम्भव योगदान करें। अद्वैत आश्रम, कलकत्ता से १० खण्डों में प्रकाशित 'विवेकानन्द साहित्य' से इन विचारों का संकलन किया गया है। स.)

लम्बी रात समाप्त होती सी लग रही है, महादु:ख का प्राय: अन्त ही प्रतीत होता है। महानिद्रा में निमग्न शव मानो जाग रहा है। इतिहास की बात तो दूर, किंवदन्तियाँ भी जिस सुदूर अतीत के घनान्धकार को भेदने में असमर्थ हैं, वहीं से एक अपूर्व आवाज उठ रही है। ज्ञान, भक्ति एवं कर्म के विराट हिमालय स्वरूप हमारी मातृभूमि भारत की हर चोटी से प्रतिध्वनित होती हुई यह आवाज मृदु परन्तु दृढ़ स्वर में हमारे कानों में आ रही है। दिन पर दिन यह और भी स्पष्ट तथा गम्भीर होती जा रही है। जो अन्धे हैं वे देख नहीं सकते, जो पागल है वे समझ नहीं सकते—हमारी यह मातृभूमि अब अपनी गहरी निद्रा को त्यागकर जाग्रत हो रही है। अब कोई भी इसकी गति को रोक नहीं सकता। अब कोई भी विदेशी शक्ति इसे दबाकर नहीं रख सकती, क्योंकि यह असाधारण 'शक्ति' अब अपने पैरों पर खड़ी हो रही है।

अतीत तो हमारा गौरवमय था ही, परन्तु मेरा हार्दिक विश्वास है कि भविष्य और भी गौरवमय होगा। . अतीत से ही भविष्य का निर्माण होता है। और जितना ही मैंने अतीत का अध्ययन किया है, जितनी ही भूतकाल की ओर मैंने दृष्टि डाली है, उतना ही अपने पूर्वजों के प्रति गर्व मुझमें आता गया है। हमारे पूर्वज महान थे. यह बात हमें याद रखनी होगी।

यह वही प्राचीन भूमि है, जहाँ धर्म एव दर्शन ने विश्व में सर्वप्रथम अपना निवसस्थान बनाया था; यह वही भारतभूमि है जिसमें बहनेवाली विशालकाय नदियाँ उसके आध्यात्मिक प्रवाहों का स्थूल प्रतिरूप हैं और जहाँ हिमालय अपने चिर शिखरों के साथ उन्नत होकर मानों स्वर्ग राज्य के रहस्यों की ओर निहार रहा है। यह वही भारतभूमि है जिस पर जगत् के श्रेष्ठतम ऋषियों की चरणधूलि पड़ चुकी है और यहीं पर सर्वप्रथम मानवीय-प्रकृति तथा मनोजगत् के रहस्यों को जानने की जिज्ञासा के अंकुर प्रस्फुटित हुए थे। .. यह वही भारतवर्ष है जो शताब्दिों से आघात, विदेशियों के असंख्य आक्रमण तथा सैकड़ों आचार-व्यवहारों के विपर्यय सहकर भी अक्षय बना हुआ है। यह वही भारत है, जो अपने अविनाशी बल तथा जीवनी-शक्ति के साथ पर्वत से भी अटल भाव से खड़ा है। जैसे आत्मा अनादि, अनन्त तथा अनश्वर है, वैसे ही हमारी मातृभूमि का जीवन भी है और हम इसी की सन्तान हैं।

प्रत्येक शताब्दी में बरसाती मेढकों के समान नये-नये राष्ट्रों का उत्थान और पतन होता रहा है—वे प्राय: शून्य से पैदा होते हैं, थोड़े दिन खुराफात मचाते हैं, और फिर विनाश की गहराइयों में खो जाते हैं; परन्तु यह महान

भारतीय राष्ट्र, जिसे दूसरे किसी भी राष्ट्र से अधिक दुर्भाग्यों, संकटों तथा उथल-पुथल का सामना करना पड़ा है, आज भी कायम है, आज भी टिका हुआ है। ... क्या कारण है कि एक राष्ट्र जीवित रहता है और दूसरा नष्ट हो जाता है? जीवन सग्राम में घृणा टिक सकती है अथवा प्रेम? भोग-विलास चिरस्थायी है अथवा त्याग? भौतिकता टिक सकती है या आध्यात्मिकता? ...वहाँ पाश्चात्य देशवाले इस बात की चेष्टा में लगे हैं कि मनुष्य अधिक से अधिक कितना वैभव संग्रह कर सकता है और यहाँ हम इस बात का प्रयास करते हैं कि कम से कम कितने में हमारा काम चल सकता है! यह द्वन्द्वयुद्ध और मतभेद अभी शताब्दियों तक जारी रहेगा। परन्तु इतिहास में यदि कुछ भी सत्यता है और वर्तमान लक्षणों से भविष्य का जो कुछ आभास मिलता है, वह यह है कि अन्त में उन्हीं की विजय होगी, जो कम से कम वस्तुओं पर निर्भर रहकर जीवन-निर्वाह करने तथा आत्मसयम के अभ्यास की कोशिश में लगे हैं; और जो राष्ट्र भोग-विलास तथा ऐश्वर्य के उपासक हैं, वे वर्तमान में चाहे जितने भी बलशाली क्यों न प्रतीत हों, अन्त में अवश्य ही विनाश को प्राप्त होकर ससार से लुप्त हो जाएँगे।

यह सनातन धर्म का देश है; यह गिर अवश्य गया है। परन्तु निश्चय ही फिर उठेगा; और ऐसा उठेगा कि दुनिया देखकर दंग रह जाएगी। देखा है न, नदी या समुद्र में लहरें जितनी ही नीचे उतरती हैं, उसके बाद वे उतनी ही जोर से ऊपर उठती हैं। यहाँ पर भी वैसा ही होगा। देखते नही, पूर्व गगन में अरुणिमा फैल गई है, सूर्योदय में अब अधिक विलम्ब नहीं है। तुम लोग भी अब कमर कसकर

तैयार हो जाओ।... तुम्हारा काम है हर प्रान्त में, हर गाँव में जाकर देश के लोगों को समझा देना कि अब आलस्यपूर्वक बैठे रहने से काम नहीं चलेगा।... सबको जाकर समझा दो कि तुम्हारा भी धर्म में समान अधिकार है। चाण्डाल तक को इस अग्निमंत्र में दीक्षित करो और सरल भाषा में उन्हें व्यापार, वाणिज्य, कृषि आदि गृहस्थी के अत्यावश्यक विषयों के उपदेश दो। नहीं तो, तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई को धिक्कार है और तुम्हारे वेद-वेदान्त के अध्ययन को भी धिक्कार है।

भविष्य मुझे दिखाई नहीं देता और न मैं उसे देखने की परवाह करता हूँ, परन्तु अपने सम्मुख एक सजीव दृश्य मैं स्पष्ट रूप से देख रहा हूँ और वह यह कि हमारी यह प्राचीन माता एक बार पुनः जाग्रत होकर, नवयौवन से पूर्ण तथा पूर्वापेक्षा अधिक महिमान्वित होकर अपने सिंहासन पर विराजमान हो रही हैं। शान्ति एवं आशीर्वाद की वाणी के साथ सारे संसार में उनके नाम की घोषणा कर दो।

●

पूर्व और पश्चिम के राष्ट्रों का भ्रमण करने से मुझे दुनिया के बारे में जो जानकारी प्राप्त हुई है, उसके आधार पर मैंने पाया है कि प्रत्येक राष्ट्र का एक ऐसा आदर्श है, जिसे उस राष्ट्र का मेरुदण्ड कहा जा सकता है। राजनीति, सामाजिक विकास, बौद्धिक उन्नति या इसी प्रकार का कोई अन्य तत्त्व प्रत्येक राष्ट्र के लिए मेरुदण्ड के समान है और हमारी मातृभूमि का मेरुदण्ड है धर्म—केवल धर्म। धर्म की नींव पर ही हमारे राष्ट्रीय जीवन की इमारत खड़ी है।
हिन्दुओं के साथ धर्म, ईश्वर, आत्मा, अनन्त तथा मुक्ति के

विषय में चर्चा कीजिए; मैं आप लोगों को विश्वास दिलाता हूँ कि यहाँ का एक साधारण कृषक भी अन्य देशों के दार्शनिक कहलाए जानेवाले लोगों की अपेक्षा इन बातों की अधिक जानकारी रखता है।

अच्छा हो या बुरा, पर हमारे राष्ट्र की जीवनी-शक्ति धर्म में ही केन्द्रीभूत है। आप न तो इसे बदल सकते हैं, न विनाश कर सकते है और न ही इसकी जगह किसी अन्य वस्तु की स्थापना कर सकते हैं। जैसे आप एक विशाल वृक्ष को उखाड़ कर किसी अन्य स्थान पर प्रतिरोपित नहीं कर सकते, वैसे ही यह कदापि सम्भव नहीं है कि यह देश अपने धर्ममय विशिष्ट पथ को छोड़कर राजनीति अथवा किसी अन्य मार्ग पर चल सके। धर्म का अनुसरण करना ही हमारे जीवन का मार्ग है, उन्नति का मार्ग है और यही हमारे कल्याण का भी मार्ग है। ... इसका अनुसरण करेंगे तो यह आपको गौरव की ओर ले जाएगा और इसे छोड़ेंगे तो मृत्यु निश्चित है।

अतएव भारत में किसी भी प्रकार के सुधार या उन्नति का प्रयास चलाने के पहले धर्मप्रचार आवश्यक है। भारत को सामाजवादी अथवा राजनीतिक विचारों से प्लावित करने के पहले आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय। सर्वप्रथम तो हमारे उपनिषदों, पुराणों तथा अन्य समस्त शास्त्रों में जो अनमोल सत्य छिपे हैं, उन्हें उन ग्रन्थों के पृष्ठों से बाहर निकालकर, मठों की चहारदीवारियाँ भेदकर, वनों की निर्जनता से लाकर, कुछ विशिष्ट सम्प्रदायों के हाथ से छीनकर देश में सर्वत्र बिखेर देना होगा, ताकि दावानल के समान ये सत्य सम्पूर्ण देश को चारों ओर से लपेट लें—उत्तर से दक्षिण और पूर्व से

पश्चिम तक सर्वत्र फैल जायँ—हिमालय से कन्याकुमारी और सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक सर्वत्र धधक उठें। सबसे पहले हमें यही करना होगा। सभी को इन शास्त्रों में निहित उपदेश सुनाने होंगे। ... आज इसकी बराबरी का दूसरा कोई कर्म नहीं है।

भावी भारत के निर्माण के लिए हमारा प्रथम कर्तव्य है— भारत की धार्मिक एकता। ...हमारे पास एकमात्र सम्मिलन भूमि है—हमारी पवित्र परम्परा और हमारा धर्म। यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का मूल है, परन्तु एशिया में राष्ट्रीय ऐक्य का आधार धर्म ही है। अतएव देश भर में सबको एक ही धर्म स्वीकार करना होगा। एक ही धर्म से मेरा क्या तात्पर्य है? ... हमारे विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्त तथा दावे चाहे कितने ही भिन्न क्यों न हों, पर हमारे धर्म के कुछ सिद्धान्त ऐसे है, जो सभी सम्प्रदायों को मान्य हैं। अपने धर्म के ये जीवनप्रद सामान्य तत्त्व हम सबके सामने प्रस्तुत करें और देश के सभी स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध इन्हें जानें, समझें तथा जीवन में उतारें— यही हमारे लिए आवश्यक है।

यदि हर मनुष्य का एक ही धार्मिक मन हो जाय और सभी एक ही मार्ग का अवलम्बन करने लगे, तो ससार के लिए वह एक बहुत ही बुरा दिन होगा। तब तो समस्त धर्म और सारे विचार नष्ट हो जाएँगे। विभिन्नता ही जीवन का मूल सूत्र है, अत इस कारण हमें आपस में लडना नही चाहिए। हमारा झगडा ससार के किसी भी धर्म से नही है। चाहे कोई काबा की ओर मुँह किए घुटने टेककर उपासना करे या चर्च में या बौद्ध मन्दिर में, वह जाने या अनजाने उस एक ही परमात्मा की उपासना कर रहा है। जिस किसी

मन्दिर में जाने से तुम्हें ईश्वर की प्राप्ति में सहायता मिले, वहीं जाकर उपासना करो; परन्तु उन मार्गों पर विवाद मत करो। ससार में अनन्त प्रकार के परस्पर-विरोधी भाव विद्यमान रहेंगे और अवश्य रहेंगे, परन्तु इसी कारण हम एक-दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखें या आपस में लडें, यह आवश्यक नहीं।

हम मनुष्य जाति को उस स्थान तक पहुँचाना चाहते है, जहाँ न वेद है, न बाइबिल, न कुरान; परन्तु वेद, बाइबिल और कुरान के समन्वय से ही ऐसा हो सकता है। हिन्दुत्व और इस्लाम इन दो विशाल मतों का सामजस्य ही हमारी मातृभूमि के लिए एकमात्र आशा है। मैं अपने मनश्चक्षुओं से भावी भारत की उस पूर्णावस्था को देखता हूँ, जिसका इस विप्लव और सघर्ष के बाद वेदान्ती बुद्धि और इस्लामी शरीर के साथ तेजस्वी एव अजेय रूप में उत्थान होगा।

मेरा आदर्श अवश्य थोडे शब्दों में कहा जा सकता है, और वह है मनुष्य जाति को उसके दिव्य स्वरूप का उपदेश देना तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसे अभिव्यक्त करने का उपाय बताना। प्रत्येक जीवात्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एव अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस दिव्यत्व को प्रकट करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनः सयम तथा ज्ञान—इनमें से एक या अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर इस दिव्यत्व को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस यही धर्म का सार-सर्वस्व है। मत, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाहरी क्रिया-कलाप तो उसके गौण अग-प्रत्यग मात्र हैं।

प्राचीन और वर्तमान सभ्यता के बीच अन्तर होना उसी दिन से शुरू हुआ, जब शिक्षा, सभ्यता आदि उच्च जातियों से धीरे-धीरे निम्नतर जातियों में फैलने लगीं। मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ कि जिस राष्ट्र की आम जनता में विद्या-बुद्धि का जितना ही अधिक प्रचार है, वह राष्ट्र उतना ही उन्नत है। करोड़ों की संख्या में जो गरीब और निम्न वर्ग के लोग हैं, ये ही राष्ट्र के प्राण हैं। ये किसान, जुलाहे आदि जो भारत के नगण्य मनुष्य हैं, विजाति-विजित स्वजाति-निन्दित छोटी-छोटी जातियाँ हैं, वही लगातार चुपचाप काम करती जा रही हैं। और अपने परिश्रम का फल भी नहीं पा रही हैं। इन लोगों ने मौन रहकर हजारों वर्षों तक अत्याचार सहा है और उससे पायी है अपूर्व सहनशीलता। चिर काल से दुःख भोगा है, जिससे पायी है अटल जीवनी-शक्ति। ये लोग मुट्ठी भर सत्तू खाकर दुनिया को उलट सकेंगे। आधी रोटी मिली तो तीनों लोकों में इनका तेज न अँटेगा। ये रक्तबीज के प्राणों से युक्त हैं और पाया है ऐसा सदाचार-बल जो तीनों लोकों में नहीं है। इतनी शान्ति, इतनी प्रीति, बेजबान रहकर इतना खटना और काम के वक्त सिंह का सा विक्रम!!

भारतवर्ष के सभी अनर्थों की जड़ है—जनसाधारण की गरीबी। पाश्चात्य देशों के गरीब तो निरे पशु हैं, उनकी तुलना में हमारे यहाँ के गरीब देवता हैं। यथार्थ राष्ट्र जो झोपड़ियों में निवास करता है, अपना पौरुष विस्मृत कर बैठा है, अपना व्यक्तित्व खो चुका है। हिन्दू, मुसलमान या ईसाई— सबके पैरों तले रौंदे जाकर ये लोग यह समझ बैठे हैं कि जिस किसी के पास पैसा हो, वे उसी के पैरों से कुचले जाने के लिए पैदा हुए हैं। उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व

प्रदान करना होगा। उन्हें शिक्षित बनाया होगा। उनके चारों ओर दुनिया में क्या हो रहा है, इस विषय में उनकी आँखें खोल देनी होंगी; बस, फिर वे अपनी मुक्ति स्वयं सिद्ध कर लेंगे।

तुम लोग ऐसे कार्यों में लग जाओ, जिससे सामान्य श्रेणी के लोगों में विद्या का प्रसार हो। जाकर उन्हें समझाते हुए कहो, "तुम हमारे भाई हो, हमारे शरीर के अंग हो। हम तुमसे घृणा नहीं, प्रेम करते हैं।" तुम लोगों की ऐसी सहानुभूति पाकर ये लोग सौ-गुने उत्साह के साथ काम करेंगे। आधुनिक विज्ञान की सहायता से इनके ज्ञान का विकास कर दो। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, साहित्य और साथ ही साथ धर्म के गम्भीर तत्त्व उन्हें सिखा दो। ज्ञान का विकास होने पर भी कुम्हार कुम्हार ही रहेगा — मछुआ मछुआ ही रहेगा — किसान खेती का ही काम करेगा। विद्या के बल से अपने सहज कर्म को वे और भी अच्छी तरह से करने का प्रयास करेंगे।

मुट्ठी भर अमीरों के विलास हेतु लाखों स्त्री-पुरुष अज्ञता के अन्धकार और अभाव के नरक में पड़े रहें! क्योंकि उन्हें धन मिलने या उनके विद्या सीखने पर समाज उच्छृंखल हो जायगा!! समाज है कौन? वे लोग जिसकी संख्या लाखों में हैं? या तुम्हारे-मेरे जैसे दस-पाँच, उच्च श्रेणीवाले? ... लाखों पददलित परिश्रमी गरीबों के हृदय-रक्त से, जिनका लालन-पालन और शिक्षा ऐशो-आराम में हो रही है, और फिर भी जो उनकी ओर ध्यान नहीं देते, उन्हें मैं विश्वासघाती कहता हूँ।

वेदव्यास कहते हैं कि कलियुग में दान ही एकमात्र धर्म है और सब प्रकार के दानों में आध्यात्मिक-दान ही श्रेष्ठ है।

इसके बाद विद्यादान, फिर प्राणदान और सबसे निकृष्ट है अन्नदान। अन्नदान हम लोगों ने बहुत किया, हमारे जैसी दानशील जाति दुनिया में कोई दूसरी नहीं है। अब हमें अन्य दोनों—धर्मदान तथा विद्यादान के लिए अग्रसर होना चाहिए। और अगर हम अपने निश्चय को दृढ कर लें, हिम्मत न हारें और पूरी ईमानदारी से काम में लग जायँ, तो पच्चीस साल के भीतर सारी समस्याओं का समाधान हो जाएगा, ऐसा कोई विषय नहीं रह जाएगा जिसके लिए लड़ाई-झगड़े हों; और तब सम्पूर्ण भारतीय समाज एक बार फिर आर्यों के सदृश हो जाएगा।

परोपकार ही जीवन है, स्वार्थ ही मृत्यु है। जितने नरपशु तुम देखते हो, उनमें नब्बे प्रतिशत मृत हैं, प्रेत हैं, क्योंकि मेरे बच्चो, जिसमें प्रेम नहीं है, वह जी भी नही सकता। मेरे बच्चो, सबके लिए तुम्हारे दिल में दर्द हो—गरीब, मूर्ख एवं पददलित लोगों के दुःख को तुम महसूस करो, तब तक महसूस करो जब तक कि तुम्हारे हृदय की धडकन न रुक जाय, मस्तिष्क न चकराने लगे और तुम्हें ऐसा न प्रतीत होने लगे कि तुम पागल हो जाओगे—फिर ईश्वर के चरणों में अपना दिल खोलकर रख दो, और तब तुम्हें शक्ति, सहायता तथा अदम्य उत्साह की प्राप्ति होगी।

हर एक स्त्री को, हर एक पुरुष को और सभी को ईश्वर के ही समान देखो। तुम किसी की सहायता नही कर सकते, तुम्हें केवल सेवा करने का अधिकार है। यदि ईश्वर की कृपा से तुम उनकी किसी सन्तान की सेवा कर सके तो धन्य हो जाओगे। स्वयं को बहुत बड़ा मत समझो। मानो कि तुम धन्य हो, क्योंकि सेवा करने का अधिकार तुम्ही को मिला, दूसरों को नही। केवल ईशपूजा के भाव से सेवा

करो। निर्धनों के भीतर हमें भगवान को देखना चाहिए। अपनी ही मुक्ति के लिए हमें उनके पास जाकर उनकी पूजा करनी चाहिए। अनेक दुखी एवं दरिद्र प्राणी हमारी मुक्ति के माध्यम हैं; ताकि हम रोगी, पागल, कोढी, पापी आदि स्वरूपों में विचरते हुए प्रभु की सेवा करके अपना उद्धार कर सकें।

मेरे शब्द बड़े गम्भीर हैं और उन्हें मैं पुनः दुहराता हूँ —हम लोगों के जीवन का परम सौभाग्य यही है कि हम इन भिन्न भिन्न रूपों में विराजमान भगवान की सेवा कर सकते हैं। प्रभुत्व के साथ किसी का कल्याण कर सकने की धारणा त्याग दो।

जब जीव और ईश्वर स्वरूपतः अभिन्न हैं, तो जीवों की सेवा और ईश्वर से प्रेम करने का अर्थ एक ही है। ... दूसरों की भलाई और सेवा करना एक महान सार्वभौमिक धर्म है। यदि भूखों को भोजन का ग्रास देने में नाम, सम्पत्ति और सब कुछ समाप्त हो जाय, तो भी 'अहोभाग्यम् अहोभाग्यम्' अत्यन्त भाग्यशाली हो तुम! हृदय और केवल हृदय ही विजय प्राप्त कर सकता है, मस्तिष्क नहीं। पुस्तकें और विद्या, योग-ध्यान और ज्ञान—प्रेम की तुलना में ये सब धूलि के समान हैं। .. मेरी अभिलाषा है कि मैं बारम्बार जन्म लूँ और हजारों दुःख भोगता रहूँ, ताकि मैं समस्त आत्माओं के समष्टि रूप उस एकमात्र ईश्वर की पूजा कर सकूँ, जिसकी वस्तविक सत्ता है और जिसका मुझे विश्वास है, और सर्वोपरि सभी जातियों और वर्गों के पापी, तापी और दरिद्र रूपी ईश्वर ही मेरे विशेष उपास्य हैं।

●

इस काम के लिए मुझे कुछ युवकों की आवश्यकता है। वेदों में कहा है कि 'युवा, बलशाली, स्वस्थ, तीव्र मेधावाले और उत्साही लोग ही ईश्वर के पास पहुँच सकते हैं। तुम्हारे भविष्य को निश्चित करने का यही समय है। इसीलिए कहता हूँ कि अभी, इस भरी जवानी में, इस नये जोश की उमर में ही कार्य करो। कार्य करो, क्योंकि कार्य करने का यही समय है। ऊँची अभिलाषा रखो और अपने देश तथा सम्पूर्ण मानवता के लिए आत्मोत्सर्ग करना सीखो।

कुछ उत्साही और अनुरागी युवक मिलने से मैं देश में उथल-पुथल मचा दूँगा। मस्तिष्क और मासपेशियों का बल साथ-साथ विकसित होना चाहिए। फौलादी शरीर हो और साथ ही कुशाग्र बुद्धि भी हो, तो सारा संसार तुम्हारे सम्मुख नतमस्तक हो जाएगा।... मान हो या अपमान, मैंने तो इन नवयुवकों का संगठन करने के लिए ही जन्म लिया है। प्रत्येक नगर में और भी सैकड़ों मेरे साथ सम्मिलित होने के लिए तैयार हैं और मैं चाहता हूँ कि उन्हें अदम्य गतिशील तरंगों की भाँति भारत में हर ओर भेजूँ, जो दीन-हीनों तथा पददलितों के द्वार पर सुख, नैतिकता, धर्म एवं शिक्षा उड़ेल दें। और मैं इसे करूँगा या मरूँगा।

भारत के नवयुवको! तुम्हीं से मुझे आशा है। क्या तुम अपने देश और राष्ट्र की पुकार सुनोगे? यदि तुम विश्वास करो तो मैं कहूँगा कि तुममें से प्रत्येक का भविष्य उज्ज्वल है। अपने आप पर अगाध और अटल विश्वास रखो। यह विश्वास रखो कि प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। तभी तुम सम्पूर्ण भारत को पुनरुज्जीवित कर सकोगे। फिर तो हम दुनिया के सभी देशों

में खुले आम जाएँगे और भारतीय विचार उन विभिन्न शक्तियों के अंगस्वरूप हो जाएँगे, जिनके द्वारा विश्व का प्रत्येक राष्ट्र गठित हो रहा है।

जीवन की अवधि अल्प है, पर आत्मा अमर है, अनन्त है और मृत्यु अवश्यम्भावी है; इसलिए आओ, हम अपने सामने एक महान आदर्श खड़ा करें और उसके लिए अपना जीवन उत्सर्ग कर दें।... अधिकांश व्यक्ति इस जगत् में बिना किसी आदर्श के ही अन्धकारमय पथ पर भटकते रहते हैं। जिसका एक निश्चित आदर्श है, वह यदि एक हजार भूलें करता है; तो जिसका कोई आदर्श नहीं, वह निश्चय ही पचास हजार भूलें करेगा। अतएव एक आदर्श रखना अच्छा है।

मेरे मित्रो, पहले मनुष्य बनो, तब तुम देखोगे कि बाकी चीजें स्वयं ही तुम्हारा अनुसरण करेंगी। आपस के घृणित द्वेषभाव को छोड़ो और सदुद्देश्य, सदुपाय, सत्साहस तथा सद्वीर्य का अवलम्बन करो। तुमने मनुष्य योनि में जन्म लिया है तो अपनी कीर्ति छोड़ जाओ।... मेरे वीरहृदय युवको। विश्वास रखो कि अनेक महान कार्य करने के लिए तुम लोगों का जन्म हुआ है। कुत्तों के भौंकने से न डरो, यहाँ तक कि यदि आकाश से प्रबल वज्रपात हो, तो भी मत डरो, उठो—कमर कसकर खड़े हो जाओ और कार्य करते चलो।

लोग देशभक्ति की चर्चा करते हैं। मैं भी देशभक्ति में विश्वास रखता हूँ और इस विषय में मेरा भी एक आदर्श है। बड़े कार्य करने के लिए तीन चीजों की आवश्यकता होती है। पहला है अनुभवशील हृदय। केवल बुद्धि या विचार-शक्ति में क्या रखा है? वह तो थोड़ी दूर जाकर ही

ठहर जाती है। परन्तु हृदय ही प्रेरणा का मूल है। प्रेम ही असम्भव द्वारों को भी खोल देता है। अतः, हे मेरे भावी सुधारको, मेरे भावी देशभक्तो, तुम अनुभव करो। क्या तुम हृदय से अनुभव करते हो कि देव और ऋषियों की हजारों सन्तानें आज पशुतुल्य हो गयी हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि आज लाखों लोग भूखों मर रहे हैं? क्या तुम अनुभव करते हो कि अज्ञान के काले बादलों ने सारे भारत को ढँक लिया है? क्या तुम यह सोचकर बेचैन हो जाते हो? क्या इस चिन्ता ने तुम्हारी नींद हराम कर दी है? क्या यह चिन्ता तुम्हारे खून के साथ मिलकर तुम्हारी धमनियों में बहती है? क्या वह तुम्हारे हृदय के स्पन्दन से मिल गयी है? क्या उसने तुम्हें पागल बना दिया है? क्या इस चिन्ता में डूबकर तुम अपने नाम-यश, पुत्र-कलत्र, धन-सम्पदा, यहाँ तक कि अपने शरीर की भी सुधि भूल चुके हो? यदि ऐसा है, तो 'हाँ' तुमने देशभक्ति की पहली सीढी पर पाँव रखा है—केवल पहली सीढ़ी पर ही।

अच्छा, मान लिया कि तुम अनुभव करते हो, परन्तु मैं पूछता हूँ कि व्यर्थ की बातों में समय न गँवा कर क्या तुमने इस दुर्दशा को दूर करने का कोई व्यावहारिक उपाय ढूँढ निकाला है? लोगों की निन्दा न कर उन्हें सहायता पहुँचाने का कोई मार्ग सोचा है? क्या उनके दुखों को कम करने के लिए दो चार सहानुभूतिपूर्ण शब्दों को खोजा है? यही दूसरी चीज है।

परन्तु इतना ही काफी नहीं। क्या तुम पर्वताकार विघ्न-बाधाओं को लाँघकर कार्य करने के लिए तैयार हो? यदि पूरी दुनिया हाथ में नगी तलवार लिए तुम्हारे विरोध

में खड़ी हो जाय, तो भी क्या तुम जिसे सत्य समझते हो, उसे पूरा करने का साहस करोगे? यदि तुम्हारे पुत्र-कलत्र तुम्हारे प्रतिकूल हो जायँ, भाग्य-लक्ष्मी तुमसे रूठकर चली जायँ, यश-कीर्ति तुम्हारा साथ छोड़ दे, तो भी क्या तुम उस सत्य में निष्ठा रखकर अपने लक्ष्य की ओर सतत बढते रहोगे? क्या तुममें ऐसी दृढ़ता है? बस यही तीसरी बात है।

यदि तुममें ये तीन बातें हैं, तो तुममें से हर एक अद्‌भुत् कार्य कर सकता है। तब तुम्हें समाचारपत्रों में छपवाने अथवा व्याख्यान देते हुए भटकने की आवश्यकता न रह जाएगी। तुम्हारा मुख स्वयं ही दीप्त हो उठेगा। फिर तुम चाहे पर्वत की कन्दरा में रहो, तो भी तुम्हारे विचार चट्टानों को भेदकर निकल आएँगे और सदियों तक सारे ससार में प्रतिध्वनित होते रहेंगे।

संसार में ज्ञान के प्रकाश का विस्तार करो; प्रकाश, केवल प्रकाश लाओ। प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करे। गरीबों में ज्ञान का विस्तार करो, धनिकों पर और भी अधिक प्रकाश डालो; क्योंकि निर्धनों की अपेक्षा धनिकों को अधिक प्रकाश की आवश्यकता है। अपढ़ लोगों को प्रकाश दिखाओ; शिक्षित लोगों के लिए और अधिक प्रकाश चाहिए, क्योंकि आजकल शिक्षा का मिथ्याभिमान खूब प्रबल हो रहा है। इसी प्रकार सबके निकट प्रकाश का विस्तार करो।

हे भाइयो, इस समय हम सबको कठिन परिश्रम करना होगा। यह सोने का समय नहीं है। हमारे कार्यों पर भारत का भविष्य निर्भर है। ससार को जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह है चरित्र। ऐसे लोग चाहिए, जिनका

जीवन स्वार्थहीन ज्वलन्त प्रेम का उदाहरण हो। वह प्रेम एक-एक शब्द को वज्र के समान प्रभावशाली बना देगा।... उठो! उठो! संसार दुःखों से जल रहा है। क्या तुम सो सकते हो? हम बारम्बार पुकारें, तब तक—जब तक कि सोए हुए देवता न जाग उठें और जब तक अन्तर्यामी देव उस पुकार का उत्तर न दें।

●

केवल एक ही पाप है और वह है दुर्बलता। दुनिया को मुझे बस इतना ही बताना है—बलवान बनो। दुर्बलता मृत्यु का लक्षण है। जो कुछ भी दुर्बल है उससे दूर रहो।

हमारे धर्मग्रन्थ चाहे कितने ही महत्वपूर्ण हों, अपने पूर्वज ऋषियों पर हम चाहे कितना भी गर्व करें, पर मैं तुम्हें स्पष्ट भाषा में कहे देता हूँ कि हम दुर्बल हैं, अत्यन्त दुर्बल हैं। प्रथम तो है हमारी शारीरिक दुर्बलता। यह शारीरिक दुर्बलता कम से कम हमारे एक तिहाई दुःखों का कारण है। हम आलसी हैं, हम कार्य नहीं कर सकते, आपस में संगठित नहीं हो सकते, एक दूसरे से प्रेम नहीं करते, हम बडे स्वार्थी हैं, इर्ष्यालु हैं। इसका कारण क्या है? शारीरिक दुर्बलता।...

सर्वप्रथम हमारे युवकों को बलवान बनना होगा। धर्म बाद में आएगा। मेरे युवा मित्रो! तुम बलवान बनो—यही तुम्हारे लिए मेरा उपदेश है। गीतापाठ की अपेक्षा फुटबाल खेलने से तुम ईश्वर के अधिक निकट पहुँचोगे। अत्यन्त साहसपूर्वक मैंने तुमसे ये बातें कही हैं और इन्हें कहना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि कंकड़ कहाँ चुभता है। अपने अनुभव के

आधार पर मैं कहता हूँ कि बलवान शरीर और मजबूत पुट्ठों से तुम गीता को और अच्छी तरह समझ सकोगे। देह में ताजा रक्त बहने से तुम कृष्ण की महती प्रतिभा और महान तेजस्विता को भलीभाँति समझ सकोगे। जिस समय तुम्हारा शरीर तुम्हारे पैरों पर सुदृढ़ रूप से खड़ा होगा, जब तुम अपने को मनुष्य समझोगे, तभी तुम उपनिषदों और आत्मा की महिमा को ठीक-ठीक समझोगे।

हमें ऐसे धर्म की आवश्यकता है, जिससे हम मनुष्य बन सकें। हमें ऐसी सर्वांगपूर्ण शिक्षा चाहिए, जिससे हम मनुष्य बन सकें और यह रही सत्य की कसौटी—जो कुछ भी तुम्हें शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से दुर्बल बनाए, उसे जहर की भाँति त्याग दो; जिसमें जीवनी-शक्ति नहीं, वह कभी सत्य नहीं हो सकता। सत्य तो बलप्रद है, पवित्रता और ज्ञानस्वरूप है। सत्य वह है जो शक्ति दे और अन्धकार को दूरकर हृदय को स्फूर्ति से भर दे।

जब मैं अमेरिका में था, तब कई बार लोगों ने मुझसे शिकायत की कि मैं द्वैतवाद पर विशेष जोर नहीं देता बल्कि केवल अद्वैतवाद का ही प्रचार किया करता हूँ। द्वैतवाद के प्रेम, भक्ति एवं उपासना में कैसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता हैं, यह मैं जानता हूँ। परन्तु भाइयो, यह हमारे आनन्दपुलकित होकर आँखों से आँसू बहाने का समय नहीं है। हम बहुत आँसू बहा चुके। कोमलता की साधना करते करते हम रूई के ढेर की भाँति कोमल और मृतप्राय हो गये हैं। हमारे देश को इस समय आवश्यकता है—लोहे के समान ठोस मांसपेशियों और मजबूत स्नायुवाले शरीरों की आवश्यकता है ऐसे दृढ़-इच्छासम्पन्न होने की कि को

उसका प्रतिरोध करने में समर्थ न हो, जो ब्रह्माण्ड के सारे रहस्यों को भेद सकती हो। यदि यह कार्य करने के लिए हमें अथाह समुद्र के गर्भ में जाना पड़े, हर प्रकार से मौत का सामना करना पड़े, तो भी यह काम हमें करना ही पड़ेगा। विश्वास! विश्वास! विश्वास! अपने आप पर विश्वास, परमात्मा में विश्वास—यही महानता का रहस्य है। यदि पुराणों में वर्णित तैंतीस करोड़ देवताओं के ऊपर तुम्हारा विश्वास हो और अपने आप पर विश्वास न हो, तो तुम कदापि मोक्ष के अधिकारी नहीं हो सकते।

यदि हजारों साल से इस कमरे में अँधेरा हो और तुम कमरे में आकर, 'हाय! बड़ा अँधेरा है! बड़ा अँधेरा है!' कहकर रोते रहो, तो क्या अँधेरा चला जाएगा? कभी नहीं। परन्तु दियासलाई की एक तिली जलाते ही कमरा प्रकाशित हो उठेगा। अतएव जीवन भर ऐसा सोचने से कि 'मैंने बहुत दोष दिए हैं, मैंने बड़े पाप किए हैं—क्या तुम्हारा कोई उपकार होगा? हममें अनेक दोष हैं और यह किसी को बतलाना नहीं पड़ता। ज्ञानाग्नि प्रज्वलित करो क्षण भर में सारी बुराई चली जाएगी। अपने सच्चे स्वरूप को—वास्तविक 'मैं' को पहचानो—उसी ज्योतिर्मय, उज्ज्वल, नित्यशुद्ध 'मैं' को प्रकाशित करो—प्रत्येक व्यक्ति में उसी आत्मा को जगाओ। मैं चाहता हूँ कि सभी लोग ऐसी अवस्था में पहुँच जायँ कि वे जघन्यतम व्यक्ति को भी देखकर उसकी बाह्य दुर्बलताओं की ओर दृष्टिपात न करें, वरन् उसके हृदय में रहनेवाले परमात्मा को देख सकें और उसकी निन्दा न कर, कह सकें, "हे स्वप्रकाश, ज्योतिर्मय, उठो! है सदा-शुद्धस्वरूप उठो! हे अज, अविनाशी, सर्वशक्तिमान उठो! अपना आत्मस्वरूप प्रकट करो।"

अपने आपसे अथवा दूसरे से कभी न कहो कि तुम दुर्बल हो। दुर्बलता का उपचार सदैव उसी का चिन्तन करते रहना नहीं है; वरन् बल का चिन्तन करना है। मनुष्य में जो शक्ति पहले से विद्यमान है, उसे उसी की याद दिला दो। दुर्बल मनुष्यों को यही सुनाते रहो—लगातार सुनाते रहो—"तुम शुद्धस्वरूप हो, उठो, जाग्रत हो जाओ। हे शक्तिमान, यह नींद तुम्हें शोभा नहीं देती। तुम अपने को दुखी मत समझो। उठो, जाग्रत होओ, अपना स्वरूप प्रकाशित करो।"...तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है? यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़ें, सैकड़ों चन्द्र चूर चूर हो जायँ, ब्रह्माण्ड एक के बाद एक नष्ट होते चले जायँ, तो भी तुम्हें क्या परवाह? पर्वत की भाँति अटल रहो। ... वीरभोग्या वसुन्धरा—वीर लोग ही पृथ्वी का भोग करते हैं—यह उक्ति नितान्त सत्य है। वीर बनो, सर्वदा कहो-'अभीः अभीः'-मैं निर्भय हूँ। सबको सुनाओ—'माभैः माभैः'—भय न करो, भय न करो! भय ही मृत्यु है, भय ही पाप है, भय अधर्म है और भय ही व्याभिचार है। जगत् में जो भी बुरे या मिथ्या भाव हैं, वे सब इस भयरूपी शैतान से उत्पन्न हुए हैं।

तुम लोग सिंहस्वरूप हो-तुम आत्मा हो, शुद्धस्वरूप, अनन्त और पूर्ण हो। जगत् की महाशक्ति तुम्हारे भीतर है। 'हे सखे, तुम क्यों रोते हो? जन्म-मरण तुम्हारी भी नहीं है और मेरा भी नहीं। तुम क्यों रोते हो मित्र? तुम्हें रोग-शोक कुछ भी नहीं है, तुम तो अनन्त आकाशस्वरूप हो; उस पर नाना प्रकार के मेघ आते हैं और कुछ देर खेलकर न जाने कहाँ लुप्त हो जाते हैं, परन्तु वह आकाश जैसा पहले नीला था, वैसा ही रह जाता है।

...सत्-चिन्तन के स्रोत में शरीर को बहा दो, मन ही मन सर्वदा कहते रहो, 'सोऽहं सोऽहम्'—मैं ही वह हूँ, मैं ही वह हूँ। दिन-रात तुम्हारे मन में यह बात संगीत की भाँति झंकृत होती रहे और मृत्यु के समय भी तुम्हारे अधरों पर यही 'सोऽहं सोऽहम्' खेलता रहे।

●

भारत के दीन-हीन लोगों को, पददलित जाति के लोगों को उनका अपना वास्तविक स्वरूप समझा देना आवश्यक है। जात-पात का भेद छोड़कर, कमजोर-मजबूत का विचार छोड़कर, हर एक नर-नारी को, प्रत्येक बालक-बालिका को यह सन्देश सुनाओ और समझाओ कि ऊँच-नीच, अमीर-गरीब और छोटे-बड़े सभी में उसी एक अनन्त आत्मा का निवास है, जो सर्वव्यापी है, अतः सभी लोग महान और अच्छे बन सकते हैं। ...सैकड़ों वर्षों से लोगों को उनकी हीनावस्था का ही बोध कराया गया है। संसार भर में सर्वत्र आम जनता से कहा गया है कि तुम लोग मनुष्य ही नहीं हो। शताब्दियों से इस प्रकार डराये जाने के फलस्वरूप वे बेचारे सचमुच ही पशु की सी अवस्था में पहुँच गये हैं। इन्हें कभी आत्मतत्त्व के विषय में सुनने का मौका नहीं दिया गया। अब इन्हें आत्मतत्त्व सुन लेने दो, जान लेने दो कि इनमें से साधारण से साधारण व्यक्ति में भी आत्मा विद्यमान है—वह आत्मा जो न कभी मरती है, न जन्म लेती है, जिसे न तलवार काट सकती है, न आग जला सकती है और न हवा सुखा सकती है; जो अमर, अनादि और अनन्त है; जो शुद्धस्वरूप सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापी है।

वेदान्त के इन महान तत्त्वों का प्रचार आवश्यक है, ये केवल वनों या गिरि-गुहाओं में सीमाबद्ध नहीं रहेंगे; वकीलों और न्यायाधीशों में, प्रार्थना-गृहों में, निर्धनों की कुटियाओं में, मछुओं के गृहों में और छात्रों के अध्ययन-कक्ष में—सर्वत्र ही इन तत्त्वों की चर्चा होगी और इन्हें काम में लाया जाएगा। उपनिषदों के सिद्धान्तों को मछुए आदि सामान्य जन किस प्रकार काम में लाएँगे? इसका उपाय शास्त्रों में बताया गया है। अत्यन्त छोटा कार्य भी यदि उत्तम भाव से किया जाय, तो उससे अद्‌भुत फल की प्राप्ति होती है। अतएव सभी यथासम्भव अच्छे भाव से काम करें। मछुआ यदि अपने को आत्मा समझकर कार्य करें, तो वह एक उत्तम मछुआ होगा। विद्यार्थी यदि अपने को आत्मा विचारे, तो वह एक श्रेष्ठ विद्यार्थी होगा। वकील यदि अपने को आत्मा समझे, तो वह एक अच्छा वकील होगा। ऐसा ही औरों के विषय में भी जान लो। इसका फल यह होगा कि जाति-विभाग तो सदा के लिए रह जाएगा, परन्तु विशेष-अधिकारों का लोप हो जाएगा। ...मनुष्य अलग-अलग वर्गों में विभक्त होंगे ही, यह अवश्यम्भावी है, परन्तु उनके साथ जुड़े विशेषाधिकारों को जड़ से उखाड़ फेंकना होगा। यदि तुम मछुए को वेदान्त सिखाओगे तो वह कहेगा—हम और तुम दोनों बराबर हैं। तुम दार्शनिक हो और मैं मछुआ; पर इससे क्या? तुम्हारे भीतर जो ईश्वर है, वही मुझमें भी है। हम यही चाहते हैं कि किसी को कोई विशेष-अधिकार न प्राप्त हों और प्रत्येक मनुष्य को उन्नति के लिए समान सुभीते उपलब्ध हों। सब लोगों को उनके भीतर विद्यमान ब्रह्मतत्त्व सम्बन्धी शिक्षा दो। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ही अपने उद्धार का प्रयास करे।

तुम अपने आपको तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसके सच्चे स्वरूप की शिक्षा दो। अति घोर मोहनिद्रा में पड़ी हुई जीवात्मा को इस नींद से जगा दो। जब यह आत्मा जागकर सक्रिय हो उठेगी, तब शक्ति आएगी, महिमा आएगी, अच्छाई आएगी, पवित्रता आएगी और जो कुछ भी श्रेष्ठ है, वह सब अपने आप आ जाएगा।

भारत में इस समय धर्म का प्रबल पुनरुत्थान हो रहा है। यह गौरव की बात है, पर साथ ही इसमें विपत्ति की भी आशंका है; क्योंकि पुनरुत्थान के साथ ही साथ यदा-कदा घोर कट्टरता भी आ जाया करती है। अतएव हमें पहले से ही सावधान होकर रास्ते के बीचो-बीच चलना चाहिए। एक ओर तो अन्धविश्वासों से भरा हुआ प्राचीन समाज है और दूसरी ओर है भौतिकवाद—अनात्मवाद—तथाकथित सुधारवाद—जो पाश्चात्य उन्नति के मूल तक में समाया हुआ हैं। हमें इन दोनों के बीच खूब सँभलकर चलना होगा।

पहली बात तो यह कि लोग पश्चिमी नहीं हो सकते, अतः उनकी नकल करना व्यर्थ है; और मान लो तुम पाश्चात्य देशवासियों का पूर्णतः नकल करने में सफल भी हो गये, तो उसी समय तुम्हारी मृत्यु अनिवार्य है, तब तुममें जीवन का लेश मात्र भी नहीं रह जाएगा। और दूसरी बात कि ऐसा होना असम्भव है। सैकड़ों गौरवशाली शताब्दियों के संस्कार त्यागना तुम्हारे लिए भला कैसे सम्भव है?

प्रश्न उठता है कि क्या हमें संसार से—पश्चिमी राष्ट्रों से कुछ सीखना है? शायद दूसरे राष्ट्रों से हमें भौतिक विज्ञान सीखना पडे। किस प्रकार संगठन बने और उसका परिचालन हो, विभिन्न शक्तियों को नियमानुसार काम में लगाकर किस प्रकार थोड़े प्रयास से अधिक लाभ

हो, इत्यादि बातें हमें शायद पाश्चात्यों से थोड़ी-बहुत सीखनी होगी। अपनी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करने तथा सर्वदा निरर्थक बातें बनाने के स्थान पर यह आवश्यक है कि हम अंग्रेजों से आज्ञाकारिता, ईर्ष्याहीनता, अथक कर्मठता और अटल आत्मविश्वास की शिक्षा प्राप्त करें। ...भौतिक सभ्यता, यहाँ तक कि विलासिता की भी आवश्यकता होती है, क्योंकि उससे गरीबों को काम मिलता है। ...परन्तु यह शिक्षा ग्रहण करते समय हमें बड़ा सावधान रहना होगा। मुझे बडे दुःख के साथ कहना पडता है कि आजकल हमें पाश्चात्य भावों से अनुप्राणित जितने लोगों के उदाहरण मिलते हैं, उनमें से अधिकाश असफलता के ही हैं। ...अज्ञ होने पर भी, अपक्व होने पर भी कट्टर हिन्दू के हृदय में एक विश्वास होता है, एक बल होता है—जिससे कि वह अपने पैरों पर खडा हो सकता है, परन्तु बिलायती रग में रँगा व्यक्ति पूरी तौर से मेरुदण्डहीन होता है। वह इधर उधर के विभिन्न स्रोतों से एकत्र किए हुए अपरिपक्व, विशृखल तथा बेमेल भावों की खिचडी मात्र है।

हिन्दू अपने समस्त दोषों के बावजूद धर्म, नीति एव अध्यात्म में दूसरे राष्ट्रों से बहुत ऊँचे हैं।.. प्राचीन धर्म से पुरोहिती-प्रपच की बुराइयों को एक बार उखाड दो, तो तुम्हें ससार का सर्वोत्तम धर्म प्राप्त हो जाएगा। चाहे तुम्हारा अध्यात्म में विश्वास हो या न हो, परन्तु यदि तुम राष्ट्रीय जीवन को दुरुस्त रखना चाहते हो, तो तुम्हें उसकी रक्षा के लिए प्रयास करना होगा। एक हाथ से धर्म को मजबूती से पकडकर, दूसरा हाथ बढाते हुए अन्य राष्ट्रों से जो कुछ सीखना हो सीख लो, परन्तु याद रखो कि जो कुछ तुम सीखो उसे मूल आदर्श का ही अनुगामी रखना होगा।

तभी अपूर्व महिमा से मण्डित भावी भारत का निर्माण होगा। मेरा दृढ़ विश्वास है कि भारतवर्ष शीघ्र ही पिछले किसी भी काल से अधिक श्रेष्ठता का अधिकारी होगा।

हे भारत! मत भूलना कि तुम्हारी स्त्रियों का आदर्श सीता, सावित्री, दमयन्ती हैं; मत भूलना कि तुम्हारे उपास्य सर्वत्यागी उमानाथ शंकर हैं; मत भूलना कि तुम्हारा विवाह, धन तथा जीवन इन्द्रिय-सुख के लिए नहीं—अपने व्यक्तिगत सुख के लिए नहीं है; मत भूलना कि तुम जन्म से ही 'माता' के लिए बलिस्वरूप रखे गये हो; मत भूलना कि तुम्हारा समाज उन विराट् महामाया की छाया मात्र है; मत भूलना कि नीच, अज्ञानी, दरिद्र, चमार और मेहतर तुम्हारे रक्त हैं, तुम्हारे भाई हैं। हे वीर! साहस का अवलम्बन करो। गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है; बोलो कि अज्ञानी भारतवासी, निर्धन भारतवासी, ब्राह्मण भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी—सब मेरे भाई हैं; तुम भी कटिमात्र वस्त्रावृत होकर गर्व से पुकारकर कहो कि भारतवासी मेरा भाई है, भारतवासी मेरे प्राण हैं, भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं; भारत का समाज मेरी शिशुशय्या, मेरे यौवन का उपवन और मेरे वार्धक्य की वाराणसी है। भाई, कहो कि भारत की मिट्टी मेरा स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है; और रात-दिन कहते रहो—"हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे! मुझे मनुष्यत्व दो; माँ मेरी दुर्बलता और कापुरुषता दूर कर दो, मुझे मनुष्य बना दो।"

स्वामीजी की भारत-परिक्रमा: कुछ झलकियाँ

डॉ. बी.टी. अडवानी
(रामकृष्ण इंस्टीट्यूट आफ कल्चर, कामठी)

अमेरिका के लिए प्रस्थान करने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया था। यह मानो उनकी मातृभूमि-परिक्रमा थी। कई वर्षों तक उन्होंने पूरब से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण की यात्रा करते हुए अनेक तीर्थों का दर्शन और नगरों तथा ग्रामों में निवास किया। कहीं वे निर्धन अछूतों की झोपड़ी में रह कर उनके सुख-दुख में हिस्सा बँटाते और कहीं राजा-महाराजाओं के महल में रह कर उन्हें प्रजा की उन्नति करने का उपदेश देते। इस दौरान वे देश के अनेक प्रबुद्ध लोगों के सम्पर्क में भी आए। अन्त में वे दक्षिणी समुद्र के तट पर स्थित कन्याकुमारी पहुँचे। वहाँ हिन्द महासागर में स्थित देश की अन्तिम शिला पर बैठकर जब वे ध्यान में मग्न हुए तो तत्कालीन भारत का पूरा खाका उनके मानसपटल पर सजीव हो उठा। देश में फैली अज्ञानता, दरिद्रता, अकर्मण्यता तथा धर्मान्धता का स्मरण कर उनका चित्त हाहाकार कर उठा। अपने देशवासियों के उद्धार हेतु कुछ करने की तड़प लिए वे चट्टान से उत्थित हुए और अमेरिका की ओर प्रस्थान किया। वहाँ आयोजित धर्मसभा में भाग लेकर उन्होंने भारत के चिरन्तन सन्देश-'सर्वधर्म-समभाव' से विश्ववासियों को परिचित कराया, हिन्दू धर्म की महिमा का मण्डन कर भारतवासियों को उनकी सुदीर्घ निद्रा से जगाया।

तरुण नरेन्द्रनाथ को युगाचार्य विवेकानन्द बनाने में उनकी इस भारत-परिक्रमा का विशेष योगदान था। इसी

कारण पिछले कुछ वर्षों से देश भर में इस महान घटना की शताब्दी मनाई जा रही है। प्रस्तुत हैं स्वामीजी के इस भ्रमण के दौरान घटित हुए कुछ प्रेरक प्रसंग—

'भागो मत, सामना करो'

वाराणसी में दुर्गा मन्दिर से लौटते समय बन्दरों का एक झुण्ड उनके पीछे लग गया। वे तेजी से भागने लगे। एक वृद्ध संन्यासी ने उन्हें पुकार कर कहा, "ठहरो, उनका डटकर सामना करो।" स्वामीजी रुक गये और मुडकर निर्भयता के साथ बन्दरों की ओर देखा। बन्दर डरकर लौट गए। परवर्ती काल में न्यूयार्क में एक व्याख्यान के दौरान इस घटना का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा था—"प्रकृति का सामना करो, अज्ञान का सामना करो, माया का सामना करो—उसे कभी पीठ मत दिखाओ।"

प्रभु-कृपा की परीक्षा

वृन्दावन में श्री गोवर्धन की परिक्रमा करते समय स्वामीजी ने व्रत लिया था कि बिना माँगे जो भी आहार मिलेगा, वही ग्रहण करेंगे। पहले ही दिन दोपहर में उन्हें बड़े जोरों की भूख लग गई। थके-माँदे वे किसी प्रकार वे आगे चले जा रहे थे कि पीछे से किसी ने उन्हें आवाज दी। परन्तु उन्होंने वहम समझकर उस ओर ध्यान नहीं दिया। और भी निकट पहुँचकर वह व्यक्ति चिल्लाते हुए बोला कि, वह उनके लिए भोजन लाया है। स्वामीजी ईश्वर की कृपा को परखने के लिए सामने की ओर भागे, परन्तु उस व्यक्ति ने पीछा करके उन्हें पकड़ लिया और बड़े आग्रहपूर्वक उन्हें भोजन कराया। इसके बाद वह चुपचाप चला गया। प्रभु की

यह कृपा देख भावविभोर स्वामीजी के नेत्रों में अश्रु आ गए।

एकाग्रता की शक्ति

मेरठ निवास के दिनों में स्वामीजी स्थानीय ग्रन्थालय से सर जॉन लबाक की ग्रन्थावली मँगाकर पढ़ा करते थे। दूसरे दिन जब पुस्तक बदलने को भेजी गयी तो ग्रन्थपाल को विश्वास नहीं हुआ कि इतने शीघ्र कोई इस गहन पुस्तक को पढ़ सकता है। स्वामीजी के समक्ष जब उन्होंने अपना सन्देह व्यक्त किया, तो वे बोले, "महाशय, मैंने इन समस्त ग्रन्थों को आत्मसात कर लिया है। विश्वास न हो तो आप इनमें से किसी भी ग्रन्थ से कहीं से भी प्रश्न कर सकते हैं।" ग्रन्थपाल ने उन ग्रन्थों में से अनेक प्रश्न पूछे और सबके सही उत्तर पाकर उनके विस्मय की सीमा न रही। बाद में इसका रहस्य पूछे जाने पर स्वामीजी ने बताया, "मैं कोई भी पुस्तक शब्दशः नहीं पढ़ता, मैं एक साथ ही एक वाक्य, यही नहीं एक-एक पैरा पढ़ता जाता हूँ।"

'संन्यासी की जाति नहीं होती'

अलवर में स्वामीजी की प्रसिद्धि सुनकर एक मौलवी साहब उनसे मिलने आए और बोले, "महाराज, मेरी बड़ी इच्छा है कि आप एक बार मेरे घर आकर भोजन करें। मैं सारे घर की सफाई कराऊँगा। ब्राह्मणों से सामग्री मँगवाकर, उन्हीं के बर्तनों में पकवाकर, उन्हीं के हाथों आपको खिलाऊँगा। मैं बहुत दूर से केवल आपको अपने घर में भोजन करते देखने के सुख की आशा में आया हूँ।" यह सुनकर उनका हाथ अपने हाथों में लेते हुए स्वामीजी ने

कहा, "मौलवी साहब, यह आप क्या कह रहे हैं? मैं एक संन्यासी हूँ और सन्यासी की कोई जाति नही होती। आप प्रेम से बुला रहे हैं तो मैं अवश्य आऊँगा और आपके साथ ही बैठकर भोजन करूँगा।"

मूर्तिपूजा का तात्पर्य

अलवर के ही दरबार में एक बार वहाँ के महाराजा मंगलसिंह ने स्वामीजी से कहा, "देखिए महाराज, मुझे मूर्तिपूजा में कतई विश्वास नहीं है। मैं अन्य लोगों की भाँति काष्ट, मिट्टी या धातु की पूजा नहीं कर सकता। तो इस कारण क्या मरने के बाद मुझे बुरी गति मिलेगी?" स्वामीजी की दृष्टि अचानक ही दीवार पर टँगी महाराजा की एक तस्वीर पर गई। उनके कहने पर तस्वीर उतारकर उनके हाथों में दे दी गई। स्वामीजी ने पूछा, "यह किसकी तस्वीर है?" उत्तर मिला, "हमारे महाराजा की।" स्वामीजी ने चित्र को जमीन पर रखते हुए दीवानजी को उस पर थूकने का निर्देश दिया। दरबार में उपस्थित सभी लोग आतंक से सिहर उठे। दीवानजी को तो मानो साँप सूँघ गया हो। सब लोग हक्के-बक्के कभी महाराजा, तो कभी संन्यासी की मुखमुद्रा का अवलोकन कर रहे थे। परन्तु स्वामीजी पुनः जोर देकर बोले, "इस पर थूकिए न, मै कहता हूँ, इस पर थूकिए।" दीवानजी भय तथा विस्मय से चीत्कार कर उठे, "यह क्या स्वामीजी! आप कह क्या रहे हैं? यह तो हमारे महाराजा की प्रतिकृति है। मैं इस पर भला कैसे थूक सकता हूँ?" स्वामीजी ने कहा, "भले ही हो, पर है तो यह कागज का एक टुकडा ही न! इस चित्र में महाराजा का शरीर तो विद्यमान नही है, लेकिन फिर भी

आप इस पर थूकने से इन्कार करते हैं, इसलिए कि आप इसमें महाराजा के रूप की छाया देखते हैं। वस्तुत: इस तस्वीर पर थूकना आप अपने स्वामी का अपमान समझते हैं।" इसके बाद वे महाराजा की ओर उन्मुख होकर बोले, "देखिए, इस पर थूकने को कोई भी तैयार नहीं, क्योंकि इसमें वे आपको ही देखते हैं। इसी प्रकार भक्त भी मूर्ति के अन्दर अपने इष्ट को देखता है और उनकी पूजा-अर्चना करता है। वह मिट्टी, पत्थर अथवा धातु को नहीं, अपितु ईश्वर को पूजता है।" महाराजा ने बड़े ध्यानपूर्वक स्वामीजी की बातें सुनीं और हाथ जोड़कर कहने लगे, "स्वामीजी मैं स्वीकार करता हूँ कि सचमुच ही आज तक मैंने ऐसे किसी भी आदमी को नहीं देखा जो काठ, पत्थर या धातु को पूजता हो, परन्तु पहले मैं इसका तात्पर्य समझ नहीं सका था। मूर्तिपूजा के विषय में आपके विचार सुनकर अब मेरी आँखें खुल गई हैं।"

प्रबल आग्रह से ज्ञानार्जन

जयपुर में उनका संस्कृत के एक विद्वान पण्ड़ित से परिचय हुआ। पण्डितजी से वे संस्कृत व्याकरण का अध्ययन करने लगे। तीन दिनों तक प्रयास करने पर भी स्वामीजी के ज्ञान में कोई उन्नति नहीं दीख पड़ी। शिक्षक ने निराश होकर अपनी असमर्थता व्यक्त की। स्वामीजी ने दृढ़ निश्चय के साथ स्वयं ही उन पाणिनी सूत्रों का अध्ययन आरम्भ किया। जिन सूत्रों का मर्मार्थ तीन दिनों में समझना सम्भव न हो सका था, उन्हें वे तीन घण्टों मे ही आयत्त करके पण्डितजी के पास गए और उनकी व्याख्या करके बताने लगे। पण्डितजी ने आश्चर्यचकित होकर पूछा, "महाराज,

यह कैसे सम्भव हुआ?" स्वामीजी ने बताया, "मन में यदि प्रबल आग्रह आ जाय, तो सब कुछ सम्भव हो जाता है—पहाड़ तक को चूर्ण-विचूर्ण किया जा सकता है।"

मुसलमान का आतिथ्य

माउंट आबू में स्वामीजी एक गुफा में निवास कर रहे थे। बरसात का मौसम होने के कारण वर्षा का जल अन्दर चला आता था। एक मुसलमान वकील स्वामीजी की ओर आकृष्ट होकर उनके पास आना-जाना किया करते थे। एक दिन उन्होंने स्वामीजी से कहा, "मेरे योग्य कोई सेवा हो तो बताइए।" स्वामीजी बोले, "इस गुफा को दरवाजे की जरूरत है, लगवा दीजिए तो मेहरबानी होगी।" वकील साहब ने बड़ी नम्रता के साथ कहा, "यह गुफा तो बड़ी खराब है, रहने के लायक नहीं है। मेरा बँगला काफी बड़ा है और मैं उसमें अकेला ही रहता हूँ। आप यदि वहाँ आकर रहें तो मैं धन्य हो जाऊँगा। मैं मुसलमान हूँ, पर आपके भोजन की अलग से व्यवस्था करा दूँगा।" स्वामीजी बोले, "नहीं नहीं, इसकी कोई जरूरत नहीं। चलिए, मैं अभी आपके साथ बँगले में रहने को चलता हूँ।"

इस घटना के कुछ दिनों बाद वकील साहब के निमंत्रण पर खेतड़ीनरेश के निजी सचिव मुंशी जगमोहनलाल स्वामीजी से मिलने आए। उन्होंने कहा, "आप एक हिन्दू संन्यासी हैं। आप कैसे एक मुसलमान के घर पर निवास कर रहे हैं? सम्भव है आपका भोजन कभी-कभी इन लोगों से छू जाता हो।" इस पर नाराज होकर स्वामीजी बोले, "महाशय, मैं एक संन्यासी हूँ, आपके समस्त सामाजिक विधि-निषेधों के परे हूँ। मैं तथाकथित अछूत के साथ भी बैठ

कर भोजन कर सकता हूँ। मैं सर्वत्र—छोटे से छोटे जीव में भी ब्रह्म देखता हूँ। मेरे लिए ऊँच-नीच कुछ भी नहीं है। शिव! शिव!

इस तरह के सैकड़ों अनुभव स्वामीजी को अपने भ्रमण के दौरान हुए थे, जिनमें से हमने बानगी के रूप में कुछ घटनाएँ प्रस्तुत की हैं। कहना न होगा कि उनके ज्ञानभण्डार में इस यात्रा के दौरान प्राप्त अनुभव रूपी रत्नों का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान था।

संसार

जीवन भर मैं अनेक यंत्रणाएँ और कष्ट उठाता आया हूँ। मैंने अपने प्राणप्रिय आत्मीयजनों को एक प्रकार से भूखमरी का शिकार होते हुए देखा है। लोगों ने मेरी हँसी उडाई है, सन्देह किया है और ये वे ही लोग हैं जिनके प्रति सहानुभूति रखने के कारण मुझे विपत्तियाँ झेलनी पडीं। वत्स, यह संसार दु:ख का आगार तो है, पर यही महापुरुषों के लिए शिक्षालय स्वरूप है। इस दु:ख से ही सहानुभूति, धैर्य और सर्वोपरि उस अदम्य दृढ इच्छाशक्ति का विकास होता है, जिसके बल से मनुष्य सारे जगत के चूर-चूर हो जाने पर भी रत्ती भर नहीं हिलता।

— स्वामी विवेकानन्द

परिव्राजक स्वामीजी और खेतड़ीनरेश

प्रियनाथ सिन्हा

(लेखक स्वामी विवेकानन्द के बाल्यकाल के मित्र थे। स्वामीजी उन्हें स्नेहपूर्वक 'सिंगी' कहा करते थे। उनके लिखे अनेक सस्मरण 'विवेकानन्द-साहित्य' में प्रकाशित हुए है। प्रस्तुत है स्वामीजी के परिव्राजक जीवन का एक रोचक अध्याय, जो 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक बँगला ग्रन्थ से गृहित तथा अनुवादित हुआ है। -स.)

१८९१ ई. में स्वामीजी राजपुताना के आबू पहाड़ पर अपने एक वकील मित्र के साथ ठहरे हुए थे। उसी समय उनके एक भक्त, खेतड़ी के महाराजा के सचिव मुशी जगमोहनलाल को साथ लिए उपस्थित हुए। जगमोहन ने देखा कि स्वामीजी एक कौपीन तथा वस्त्र पहने लेटे हुए हैं। जगमोहनलाल एक अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त युवक थे और उनका विश्वास था कि गेरुआ पहननेवाले सारे सन्यासी चोर-बदमाश हैं। निद्रा टूटने के बाद स्वामीजी ने जगमोहन के साथ काफी बातचीत की। जगमोहन का अन्धविश्वास दूर हुआ और मन में प्रबल आकांक्षा हुई कि स्वामीजी के साथ अपने महाराजा का परिचय कराएँ। स्वामीजी के सम्मुख खेतड़ीनरेश के साथ वार्तालाप का प्रस्ताव रखने पर उन्होंने सहमति व्यक्त की और बोले, "परसों महाराजा के साथ भेंट करूँगा।" जगमोहन ने जब अपने महाराजा को जाकर सारी बातें कहीं, तो वे स्वामीजी का दर्शन करने को उत्सुक हो उठे और बोले, "मैं स्वयं जाकर स्वामीजी के साथ मुलाकात करूँगा।" यह बात सुनने के बाद स्वामीजी अविलम्ब उनसे मिलने जा पहुँचे।

महाराजा ने अभिवादन कर उन्हें आसीन कराने के बाद पूछा, "स्वामीजी, जीवन क्या है? " उत्तर मिला,

"प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच जीव के आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति को जीवन कहते है।"

इसी प्रकार के विभिन्न प्रश्नोत्तरों के द्वारा महाराजा को स्वामीजी की प्रत्युत्पन्नमति एवं ज्ञान का परिचय मिला। उनके मन में जो भी प्रश्न उठे, सभी वे सरल भाव से पूछते गये। स्वामीजी ने आनन्दपूर्वक उनका उत्तर दिया। महाराजा ने फिर पूछा, "अच्छा स्वामीजी, शिक्षा क्या है?" प्रश्न समाप्त होते न होते स्वामीजी ने उत्तर दिया, "विचारों का स्नायुओं से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का नाम शिक्षा है।" अपनी इस बात की व्याख्या करते हुए वे आगे बोले कि भावों के दृढ़ संस्कार के रूप में प्रत्येक शिरा और स्नायु में व्याप्त हो जाने को शिक्षा कहते हैं। जब तक हमें अग्नि की दाहिकाशक्ति का बोध नहीं होता, जब तक वह अनुभव हमारी धमनी तथा मज्जा तक नही पहुँचता, तब तक व हमें अग्नि का ज्ञान नहीं होता। किंचित तर्कशास्त्र कण्ठस्थ कर लेने मात्र से ही शिक्षा नहीं हो जाती। जो जीवन के साथ मिश्रित हो जाय वही यथार्थ शिक्षा है। जैसा कि परमहसदेव का काचन-त्याग था – निद्रावस्था में भी उनके किसी अंग से रुपये का स्पर्श कराने पर उसमें विकृति आ जाती थी। इसी प्रकार जो सस्कार से मिल जाता है, वही वास्तविक शिक्षा है। राजा के प्रश्नों का स्वामीजी इसी तरह सभी दृष्टियों से समझाते हुए उत्तर देने लगे। राजा अत्यन्त मुग्ध हुए और उन्हें अपनी राजधानी में आने का निमत्रण दिया। स्वामीजी भी उनके साथ खेतड़ी जाने को सहमत हुए।

जयपुर तक रेलगाडी और वहाँ से रथ में लगभग नव्बे मील की यात्रा कर वे खेतड़ी पहुँचे। स्वामीजी को

पाकर महाराज परम आह्लादपूर्वक उनकी सेवा में लग गए। वार्तालाप के दौरान एक दिन राजा ने पूछा, "स्वामीजी सत्य क्या है?" स्वामीजी ने उत्तर दिया, "सत्य एक और अद्वितीय है। मनुष्य मिथ्या से सत्य की ओर नहीं, अपितु आपेक्षिक सत्य से चरम सत्य की ओर अग्रसर होता है।" विज्ञान के विषय में उनके बीच प्रायः ही चर्चा हुआ करती थी। एक दिन राजा ने विज्ञान पढ़ने की इच्छा व्यक्त की। स्वामीजी विज्ञान की प्राथमिक पुस्तकें मँगाकर उन्हें पढाने लगे; बाद में उन्होंने एक बी.ए. फेल युवक को लाकर महाराजा के विज्ञान-शिक्षा की व्यवस्था कर दी और क्रमशः सभी प्रकार के वैज्ञानिक यंत्र भी मँगाने लगे। इन्हीं दिनों उनका पण्डित नारायणदास नामक एक वैयाकरण के साथ सम्पर्क हुआ। राजपुताना में ये व्याकरण के अद्वितीय विद्वान थे। स्वामीजी उनसे महाभाष्य का अध्ययन करने लगे। पहले दिन स्वामीजी को पढ़ाने के बाद पण्डितजी ने कहा, "महाराज, आपके समान विद्यार्थी मिलना कठिन है।" एक दिन पण्डितजी ने थोड़ा अधिक ही पढ़ा दिया। अगले दिन उन्हीं विषयों पर प्रश्न करने पर स्वामीजी ने सब कुछ आवृत्ति करते हुए बता दिया। पण्डितजी विस्मित होकर उन्हें और भी अधिक मात्रा में पढ़ाने लगे। परन्तु स्वामीजी जो प्रश्न उठाते, वैयाकरण महोदय उनका उत्तर न दे पाते; अतः कुछ दिनों बाद स्वामीजी को लगा कि वे पण्डितजी से सचमुच का कुछ नहीं सीख पा रहे हैं और पण्डितजी ने भी जब देखा कि स्वामीजी स्वयं प्रश्न उठाकर स्वयं ही उसकी मीमांसा कर ले रहे हैं, तो वे बोले, "महाराज, अब आपको और सीखने लायक कुछ नहीं है।"

स्वामीजी जब कोई पुस्तक पढ़ते तो वे पुस्तक की

ओर देखते हुए तेजी से पन्ने पलटते जाते। यह देखकर महाराजा ने पूछा, "स्वामीजी, इतनी जल्दी आप कैसे पढ़ लेते हैं? " स्वामीजी ने कहा, "कोई बालक जब नया-नया पढ़ना आरम्भ करता है, तो वह एक-एक अक्षर का दो-तीन बार उच्चारण करने के बाद ही पूरे शब्द का उच्चारण करता है। उस समय उसका ध्यान प्रत्येक अक्षर पर रहता है। परन्तु जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है तब उसकी दृष्टि अक्षर पर नहीं बल्कि एक-एक शब्द पर पड़ती है। और वह अक्षरों कर ध्यान दिये बिना ही सीधे शब्द का बोध करता है। जब उसका अभ्यास और भी बढ़ जाता है तो उसकी निगाह सीधे एक-एक वाक्य पर पड़ती है और उनके अर्थ का बोध होता जाता है। इसी अभ्यास में और भी वृद्धि हो जाने पर एक-एक पृष्ठ का ज्ञान होने लगता है। यह केवल मनःसंयम और साधना का फल है। आप प्रयास कीजिए तो आपको भी ऐसा ही होगा।"

सच्चर्चा तो सर्वदा ही होती रहती थी। चर्चा के दौरान एक दिन महाराजा ने प्रश्न किया, "स्वामीजी, नियम क्या है? " उत्तर में स्वामीजी बोले, "बाह्य जगत् में किसी भी नियम का अस्तित्व नहीं है। तथापि नियम उस प्रणाली को कहा जा सकता है जिसके द्वारा मन कतिपय भावों की धारणा करता है। जिस प्रकार प्रकाश के परमाणु आँखों पर प्रतिबिम्बित होने के बाद, आँखें उसे अन्तर्वर्ती इन्द्रिय के पास भेजती हैं। तदुपरान्त इन्द्रिय मन को, मन निश्चयात्मिका बुद्धि को, बुद्धि अंहकार को और अंहकार उसे पुरुष के पास पहुँचा देती है। फिर मानो पुरुष की आज्ञा से पुनः आँखों तक वही क्रिया दुहरायी जाने पर, तब कहीं बाह्य वस्तु अथवा आलोक का बोध होता है। यह प्रक्रिया ही

एक नियम है, अन्तर्जगत का नियम।"

महाराजा प्रतिदिन रात को दो-तीन बजे शय्या त्यागकर स्वामीजी के पास आते और उनकी पदसेवा करते, बड़ी सावधानी के साथ, ताकि कहीं उनकी नींद न खुल जाय। दिन के समय स्वामीजी उन्हें पदसेवा का अवसर नही देते थे, इसलिए कि सबके सामने पदसेवा करने से महाराजा की गरिमा कम न हो जाय। स्वामीजी की इतनी सेवा करके तथा बारम्बार पूछकर भी महाराजा उनका परिचय नहीं जान सके थे। महाराजा निःसन्तान थे। एक दिन वे अपनी मनोवेदना व्यक्त करते हुए बोले, "स्वामीजी, आप आशीर्वाद दीजिए कि मेरे एक पुत्र हो, फिर मुझे निश्चित रूप से पुत्रलाभ होगा।" राजा की व्याकुलता देखकर स्वामीजी ने उन्हें वही आशीर्वाद दिया और तदनन्तर अन्यत्र चले गए। यहाँ पर उनका लगभग दो माह निवास हुआ था।

इस घटना के कोई दो वर्ष बाद खेतड़ी-नरेश को एक पुत्र हुआ। महाराजा बड़े आनन्दित थे। उनकी इच्छा थी कि स्वामीजी को लाकर उत्सव किया जाय। अपने प्रिय सचिव को बुलाकर उन्होंने कहा, "जगमोहन, स्वामीजी को न ला सके तो सब व्यर्थ होगा। उन्हीं के आशीष से यह वंशधर जन्मा है, अतः जैसे भी हो सके, उन्हें लाने की व्यवस्था करो।" सचिव अपने मालिक की आज्ञा पाकर सीधे मद्रास जा पहुँचे। उन्हें ज्ञात था कि स्वामीजी मद्रास में विद्यमान हैं। मद्रास नगर में पहुँचकर स्वामीजी कहाँ ठहरे हैं इसका पता लगाते-लगाते आखिरकार उन्हें ज्ञात हुआ कि वे असिस्टेंट एकाउंण्टेंट जनरल श्री मन्मथनाथ भट्टाचार्य के मकान में हैं। जगमोहन लाल ने वहाँ जाकर नौकरों से पूछा

कि स्वामीजी कहाँ हैं? उन लोगों ने बताया, "समुद्र पर गए हैं।" मुन्शीजी को भय हुआ कि स्वामीजी कहीं समुद्र मार्ग से विदेश तो नहीं निकल गए? तब तो सब कुछ व्यर्थ हुआ। वे इसी चिन्ता में पड़े हुए थे कि उनकी नजर पास के कमरे में खूँटी पर टँगे गेरुए वस्त्र पर गयी। तब उनकी समझ में आया कि उनके गुरुदेव अभी वहीं हैं। दक्षिण भारतीय सेवक की भाषा न समझ पाने के कारण ही उन्हें भ्रम हुआ था। इसी प्रकार वे विचारों में डूबे हुए थे कि तभी गाड़ी की घरघराहट सुनाई पड़ी। स्वामीजी और मन्मथ बाबू समुद्र के किनारे घूमकर एक गाडी में लौट आए थे। स्वामीजी के गाड़ी से उतरते ही जगमोहन लाल उन्हें साष्टाग प्रणाम करके खड़े हो गए और वे एक-दूसरे का कुशल-मगल पूछने लगे। मुन्शीजी के मुख से महाराजा की इच्छा सुनकर स्वामीजी ने कहा, "जगमोहन, मुझे अमेरिका जाने की सारी व्यवस्था करनी है। अब इस समय मैं तुम्हारे महाराजा के पास कैसे जा सकता हूँ?" परन्तु जगमोहन भी छोडनेवाले न थे। बोले कि उन्हें जाना ही होगा और विदेश जाने की सारी व्यवस्था वे स्वय कर देंगे। इस विषय में उन्होंने स्वामीजी को निश्चिन्त रहने का अनुरोध किया। आखिरकार वे सहमत हुए। स्वामीजी ने अपने मद्रासी भक्तों के साथ जगमोहन का परिचय करा दिया। कुछ दिनों के भीतर ही स्वामीजी के खेतडी जाने की तैयारी हो गयी। मद्रास के मित्रों ने अत्यन्त दुखी हृदय से उन्हें विदाई दी। प्रथम श्रेणी में एक आरक्षण कराकर जगमोहन स्वामीजी को ले चले।

रात के नौ बजे थे। खेतडी के राजप्रासाद में बडी धूम मची हुई थी। प्रासाद के भीतर एक सुसज्जित तालाब में

फूल-फल-मणि-मुक्ताओं से अलंकृत एक नौका में महाराजा आसीन थे। चारों ओर संगीत की सुरलहरी फैली हुई थी। मंत्रियों से घिरे हुए राजपुताना के राजागण उपयुक्त आसनों पर बैठे हुए थे। तीन-चार दिनों पूर्व उत्सव आरम्भ हुआ था। अनेक राजा अपने-अपने स्थान को लौट गए थे। परन्तु अब भी सब कुछ अपूर्व शोभा से शोभित था और आनन्द का स्रोत प्रवाहित हो रहा था। तभी जगमोहन स्वामीजी को साथ लिए उपस्थित हुए। महाराजा ने उन्हें देखते ही अविलम्ब आकर सबके सामने ही उन्हें साष्टाग प्रणाम किया। स्वामीजी ने हाथ पकड़कर उन्हें उठाया और उपयुक्त आसन पर बिठाकर उनके साथ विभिन्न विषयों पर बातें करने लगे। खेतड़ी-नरेश ने वहाँ उपस्थित अन्य सभी लोगों के साथ स्वामीजी का परिचय कराया और अमेरिका जाकर शिकागो के धर्म-सम्मेलन में सनातन धर्म के गूढ तत्त्वों को समझाने के उनके संकल्प पर उन्हें हार्दिक धन्यवाद देने लगे।

कुछ दिनों बाद अमेरिका जाने के लिए जहाज पर चढ़ने का समय निकट देखकर महाराजा स्वयं उनके साथ जयपुर तक आए और एक पहली श्रेणी का स्थान आरक्षित कराकर, उसमें बैठाकर, उन्हें विदा किया। अपने नीजी सचिव जगमोहन को उन्होंने स्वामीजी के साथ बम्बई तक जाकर सारी व्यवस्था करने का आदेश दिया था। आबूरोड़ स्टेशन पर पहुँच कर उन्होंने अपने एक रेल कर्मचारी भक्त के आवास पर रात्रियापन किया। इसके पूर्व स्वामीजी ने अपने दो गुरुभाइयों के अस्वस्थ हो जाने पर, इस स्टेशन से दस मील दूर आबू पहाड़ में स्थित खेतड़ी के ग्रीष्मावास में उनके रहने की व्यवस्था कर दी थी। यहाँ आकर स्वामीजी

ने उन लोगों से मिलने की इच्छा से संवाद भेजा। उनमें से एक यथासमय आए। स्वामीजी, जगमोहन तथा भक्त रेल-कर्मचारी एक साथ ही पुनः बम्बई जानेवाली गाड़ी में सवार हुए।

स्टेशन पर स्वामीजी के भक्त एक बंगाली सज्जन उनके साथ गाड़ी में बैठकर वार्तालाप कर रहे थे। उसी समय एक अंग्रेज टिकट कलेक्टर ने आकर उन सज्जन को उतरकर चले जाने का आदेश दिया। परन्तु वे वहीं बैठकर समय होने की प्रतीक्षा करते रहे। अपने आदेश का पालन न होते देख थोड़े नाराज होकर साहब ने रेल्वे-कानून की दुहाई देते हुए उनसे पुनः उतर जाने को कहा। ये सज्जन भी रेल-कर्मचारी थे और कानून से परिचित थे। वे बोले कि ऐसा कोई कानून नहीं है, जिसके चलते वे जाने को बाध्य हों। अतः दोनों के बीच अच्छा वाद-विवाद उत्पन्न हो गया। स्वामीजी द्वारा भक्त को बारम्बार झगड़ा करने से मना करने के बावजूद, क्रमशः उनका पारा चढ़ते देख स्वामीजी उन्हें रोकने का प्रयास कर रहे थे, उसी समय अचानक ही अंग्रेज ने स्वामीजी को धमकी देते हुए कहा, "तुम काहे को बात करते हो?" सम्भवतः गेरुआ पहने कोई साधारण संन्यासी समझकर ही साहब ने धमकी दी थी। रेलगाड़ी में कितने ही गेरुआधारी साधु आवागमन करते थे और साहबों से धक्के खाकर भी चुपचाप चले जाते थे। अतः अंग्रेज ने इन्हें भी वैसा ही कोई समझा था। अंग्रेजों के सामने आबाल-वृद्ध-वनिता भला कौन न डरता? कौन था जो संकुचित न हो जाता? अंग्रेज लोग भी इस देश में पदार्पण करते ही देशी लोगों में यह भाव देखकर अपना सीना नौ गज का करके काले आदमी को मनुष्य तक नहीं समझते थे।

और इनमें बड़े आनन्द की अनुभूति भी किया करते थे। आसुरी भाव के लोगों को इसमें मजा आना ही स्वाभाविक है। अस्तु, साहब को यह मालूम नहीं था कि इस बार उनका पाला एक सिंह से पड़ा है। स्वामीजी ने आँखें लाल करके अंग्रेजी में गरजकर कहा, "इस 'तुम' से तुम्हारा क्या तात्पर्य है? क्या तुम ठीक से पेश नहीं आ सकते? उच्च श्रेणी के यात्रियों से कैसे बात की जाती है तुम्हें मालूम नहीं? 'आप' कहकर क्या सज्जन के समान बातें नहीं कर सकते?" साहब ने उत्तर दिया, "मुझे खेद है, मैं यह भाषा अच्छी तरह नहीं जानता। मैं तो केवल यही चाहता था कि यह आदमी . .।" स्वामीजी अब और भी नाराज होकर बोले, "मुर्ख कहीं के, तुम कहते हो कि तुम हिन्दी भाषा ठीक से नहीं जानते और अब देखता हूँ कि तुम अपनी भाषा अंग्रेजी भी नहीं जानते! क्या तुम इन्हें सज्जन कहकर सम्बोधित नहीं कर सकते? अपना नाम और नम्बर दो, मैं अधिकारियों से तुम्हारे दुर्व्यवहार की शिकायत करूँगा।"

शोरगुल सुनकर वहाँ बहुत से लोगों की भीड़ एकत्र हो गई थी। स्वामीजी की फटकार सुनकर अंग्रेज की तो सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई थी। कुछ बोल पाने में असमर्थ होकर वह किनारा काटने के प्रयास में था। स्वामीजी पुन: बोले, ""मैं तुम्हें अन्तिम विकल्प देता हूँ। या तो तुम मुझे अपना नाम और नम्बर दो, या फिर लोग देखें कि तुम्हारे जैसा कायर दुनिया में नहीं है।"

साहब गरदन नीचा किए हुए खिसक लिया और गाड़ी भी चल पड़ी। मुन्शीजी स्वामीजी के साथ एक प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठे थे। इसके बाद स्वामीजी जगमोहन को अंग्रेजों के समक्ष हमारे स्वाभिमान के अभाव पर दो घण्टे

तक व्याख्यान देते रहे। जगमोहन एक महा अपराधी के समान सिर झुकाए सब सुनते गए। स्वामीजी ने कहा, "जगमोहन, हिन्दू लोग अपने शत-सहस्त्र गुणों के कारण अन्य जातियों की अपेक्षा उच्च अन्तःकरण वाले हैं। केवल धर्मशिक्षा विकृत हो जाने के कारण ही वे अपने आपको सबसे गया-बीता समझते हैं। इसीलिए वे जूतों की ठोकर खाकर भी उसे झाड़ लेते है।"

बम्बई पहुँचकर मुन्शीजी सारी वस्तुओं की व्यवस्था करके दो-चार दिनों बाद स्वामीजी को जहाज में चढ़ाने गए। साथ में दो-एक स्थानीय लोग भी थे। स्वामीजी ने अपने लिए आरक्षित प्रथम श्रेणी के केबिन में जाकर देखा कि जगमोहन ने आवश्यक वस्तुओं को किस प्रकार सजाया है। स्वामीजी की परिचर्या में नियुक्त एक अंग्रेज दरवाजे पर हाजिर था। घण्टा बजने पर सभी भोजन करने गए। स्वामीजी ने कहा, "जगमोहन, हम लोगों ने, जो जैसा आदमी है, उसी के अनुसार उसके साथ व्यवहार नहीं किया, इसीलिए वे लोग सिर पर सवार हो जाते हैं। इस अंग्रेज को देखते हो न, यह मेरा आदेश सुनने को उपस्थित है। यहाँ सभी अंग्रेज एक ही तरह के हैं; कोई यहाँ आकर इसके साथ मालिक के समान जी-हुजूरी करेगा, ऐसी बात नहीं। यह दास है। इससे दास के समान ही काम करवाना होगा, नियंत्रण में रखना होगा, अधिकार जताना होगा ; तुम लोग स्वयं को हल्का कर डालते हो, यही दोष है। तुम देखना मैं कैसे अपनी गम्भीरता दिखाकर, उसे अपने अधीन रखूँगा, बेटा केंचुआ बनकर रहेगा।"

जहाज के सभी गोरे एक मेज पर बैठे भोजन कर रहे थे, उनके बीच गैरिक वस्त्र पहने तथा सिर पर पगड़ी धारण

किए स्वामीजी भी विराजमान थे। जगमोहन ने देखा स्वामीजी मानो राजशोभा धारण किए बैठे हैं। भोजन के पश्चात् फिर घण्टा बजा। जो लोग विदा करने आए थे, वे चले गए। जगमोहन सबसे आखिर में काठ की सीढ़ी से नीचे उतरे और इसके साथ ही जहाज चल पड़ा। स्वामीजी ने इशारे से विदाई दी। जब तक वे दिखाई देते रहे, तब तक जगमोहन के नेत्र अपने गुरुदेव की ओर ही लगे रहे।

धर्मभूमि भारत

तुम्हारे पूर्वजों ने धर्मरक्षा के लिए सब कुछ साहसपूर्वक सहन किया, मृत्यु को भी उन्होंने हृदय से लगाया था। विदेशी विजेताओं द्वारा मन्दिर के बाद मन्दिर तोडे गये, परन्तु उस बाढ़ के बह जाने में देर नहीं हुई कि मन्दिर के कलश फिर खडे हो गये। दक्षिण के ये ही कुछ पुराने मन्दिर और गुजरात के सोमनाथ जैसे मन्दिर तुम्हें राशि राशि ज्ञान प्रदान करेंगे। वे जाति के इतिहास के भीतर वह गहरी अन्तर्दृष्टि देंगे, जो ढेरों पुस्तकों से भी नहीं मिल सकती। देखो कि किस तरह ये मन्दिर सैकड़ों आक्रमणों और सैकडों पुनरूत्थानों के चिन्ह धारण किये हुए हैं, ये बार-बार नष्ट हुए और बार-बार ध्वसावशेष से उठकर नया जीवन प्राप्त करते हुए अब पहले ही की तरह अटल भाव से खडे हैं। इसलिए इस धर्म में ही हमारा जातीय मन है, हमारा जातीय जीवनप्रवाह है। इसका अनुसरण करोगे तो यह तुम्हें गौरव की ओर ले जायगा। इसे छोडोगे तो मृत्यु निश्चित है। ..मेरे कहने का यह अर्थ नहीं कि राजनीतिक या सामाजिक उन्नति अनावश्यक है, बल्कि मेरा तात्पर्य यह है और मैं तुम्हें सदा इसकी याद दिलाना चाहता हूँ कि ये सब यहाँ गौण विषय हैं, मुख्य विषय धर्म है।

-स्वामी विवेकानन्द

जय श्री स्वामी विवेकानन्द

रामइकबालसिंह 'राकेश'

गरुड़नीड़, भदई

रामकृष्णलीलाह्रद के शतदल सहस्रदल,
स्वयंज्योति तुम, दीप्यमान तुमसे भूमण्डल।
परितापित जीवों का करने तापनिवारण,
हुए अवतरित मर्त्यभूमि में धर मानव-तन।

आत्मबन्धहर नादबिन्दुस्वर तुममें छन्दित,
शंकर का अद्वैतज्ञान तुमसे महिमान्वित।
भक्तियोग नारद का तुमसे शक्तितरंगित,
उपनिषदों का चरम सत्य तुममें प्रतिबिम्बित।

मानवता की आत्मकथा के तुम अभिव्यंजन,
कालातीत पुरुष के निद्रारहित जागरण।
सृष्टि-यज्ञ के विस्फुलिङ्गमय तुम वैश्वानर,
जिसमें दीप्त हो उठा शिल्प निखिल का तपकर।

ज्वार-लहर से मथित सिन्धु-तल के बड़वानल,
राग-विटप को भुलसाने वाले दावानल।
उदयाचल के अरुणवर्णप्रभ भुवनविभाकर,
भूमण्डल यह जगा तुम्हारे जग जाने पर।

किया विराट प्रणव का तुमने छन्द-निबन्धन,
परम ऊर्ध्व के गरुड़-पख पर कर आरोहण।
नर-नारायण के गौरव का तथ्यनिरूपण,
बना तुम्हारी ऋतम्भरा प्रज्ञा का दर्शन।

गतिपथ पाते तुमसे, आघातों से जर्जर,
अर्धनग्न दीनातिदीन अगणित नारी-नर।
मन्वन्तर की लिये निराशा मुखमण्डल पर,
करते जो क्रन्दन से कम्पित दीर्ण दिगन्तर।

महतोमहीयान तुम आप्तकाम योगेश्वर,
ज्ञानतीर्थ के अनुशीलन में निरत निरन्तर।
अग्निमंत्र से युगादर्श को मूर्त बना कर,
धर्मभूमि भारत में तुमने किया युगान्तर।

आर्तबन्धु तुम अभिनव भारत के उद्बोधन,
चिदानन्दघनमधु का करनेवाले प्राशन।
भूमामृत के स्वर-व्यंजन को अर्थों से भर,
किया अंकुरित शत-सहस्रधा पृथिवीतल पर।

नमः परमऋषि, उठे हुए माया के ऊपर,
उत्सर्गित श्रीरामकृष्ण गुरु के चरणों पर।
ऊर्ध्वभूमि में आत्मज्ञान या बोध प्राप्तकर,
अभिषेकित तुम महाश्रेय के सिंहासन पर।

विश्वभुवन का महाकाश तुमसे सौरभमय,
परमतत्त्व के केन्द्र नियामक, अमृतमेतु जय।
अमर तुम्हारे जीवन का सगीत काव्यमय,
ऋषिप्रज्ञा का मानदण्ड अन्तर्गौरवमय।

महासभा में स्वामी विवेकानन्द

स्वामी गम्भीरानन्द

(शिकागो में विश्व-धर्म-महासभा का आयोजन क्यों तथा कैसे हुआ था और उसमें प्रदत्त स्वामीजी के व्याख्यानों का क्या प्रभाव हुआ था? इन्हीं प्रश्नों का सविस्तार विवरण मिलता है इस लेख में। यह स्वामी गम्भीरानन्दजी द्वारा लिखित 'युगनायक विवेकानन्द' नामक बँगला ग्रन्थ के एक अध्याय का अनुवाद है। तीन खण्डों के सम्पूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी रूपान्तरण रामकृष्ण मठ, नागपुर से शीघ्र प्रकाश्य है। —सं.)

चार सौ वर्ष पूर्व कोलम्बस ने स्पेन से यात्रा करके अमेरिका में पदार्पण किया था, इसी घटना की स्मृति में १८९३ ई. में शिकागो नगर में जो वर्ल्ड कोलम्बियन एक्सपोजीशन हुआ, उसका प्रमुख उद्देश्य था—मनुष्य ने तब तक भौतिक जगत् में जितने प्रकार से उन्नति की थी, उन सबका एक साथ प्रदर्शन करना। उसमें पाश्चात्य संस्कृति के नमूनों को तो स्थान मिला ही था, साथ ही अविकसित देशों की सांस्कृतिक झाँकी भी वहाँ प्रतीकात्मक रूप से प्रदर्शित की गयी थी। तथापि ऐसा लगा कि मनोजगत् में मानव ने जो उन्नति की है, उसे भी प्रदर्शनी में स्थान मिलना चाहिए। १८८९ ई. के ग्रीष्म ऋतु में श्रीयुत चार्ल्स कैरल बोनी के मन में आया कि विश्व के सभी देशों से प्रतिनिधियों को बुलाकर कुछ ऐसे सम्मेलन आयोजित किये जायँ, जिनमें मानवीय सभ्यता के साथ दृढ़तापूर्वक जुड़े हुए विषयों पर चर्चा हो सके। बोनी एक प्रतिभावान तथा व्यावहारिक व्यक्ति थे। उनकी परिकल्पना का स्वागत हुआ। तदनुसार ३० अक्टूबर १८९० ई. को 'वर्ल्डस कांग्रेस एग्जिलरी ऑफ कोलम्बियन एक्सपोजिशन' नामक एक कमेटी का गठन हुआ और बोनी उसके अध्यक्ष नियुक्त हुए। इसके समितियों की संख्या बीस थी और १५ मई से २८ अक्टूबर १८९३ ई. के

दौरान उनका अधिवेशन हुआ। इन सभाओं में सामाजिक प्रगति, समाचार-पत्र, चिकित्सा व शल्यविज्ञान, नशीले पदार्थों का निषेध, कानून व समाज-सुधार, अर्थशास्त्र और धर्म इत्यादि विषयों पर चर्चा हुई। इनमें धर्ममहासभा ही सबसे महत्वपूर्ण थी और इसी ने जनता का ध्यान सर्वाधिक आकृष्ट किया।

यह बात और है कि ऐसी धर्मसभा विश्व में पहली बार नहीं हो रही थी। बौद्धकालीन भारतवर्ष में अनेक धर्म-सम्मेलन हुए थे। ईसाई धर्मावलम्बी भी अपने धर्ममत को सुनिश्चित करने के लिए समवेत हो चुके हैं। इस्लाम धर्म के इतिहास में भी इसके उदाहरण हैं। परन्तु विश्व के विभिन्न धर्मावलम्बियों द्वारा एक ही सम्मेलन में एकत्र होकर एक ही मंच से, बिना किसी विवाद के, अपने मत की घोषणा करने का अवसर तथा अधिकार इसके पूर्व किसी को नहीं मिला था। ऐसी कोई परिकल्पना ही अकल्पनीय थी। उस परमतद्वेष तथा जड़वाद के प्राबल्य के काल में जब इस प्रस्ताव को घोषित किया गया, तो वह मनुष्य की क्षमता के परे ही प्रतीत हुआ था, परन्तु ऐसी असम्भव घटना भी स्वामीजी को दैवनिर्दिष्ट तथा अवश्यंभावी ही लगी। भारत से विदा होने के पूर्व उन्होंने स्वामी तुरीयानन्द से कहा था, "हरिभाई, धर्ममहासभा इसी (अपनी ओर इंगित कर) के लिए हो रही है। मेरा मन ऐसा ही कह रहा है। शीघ्र ही तुम्हें इसका प्रमाण देखने को मिलेगा।"

यद्यपि स्वामीजी की दिव्य दृष्टि के सम्मुख महासभा का उद्देश्य इसी रूप में प्रकट हुआ था, तथापि जो लोग प्रत्यक्ष रूप से इसके आयोजन में लगे थे, उनके मन में दो विपरीत से दिखनेवाले भावों का मिश्रण हुआ था। उदारता

के साथ महासभा में सभी धर्मों को बराबरी का दर्जा देने के बावजूद उन लोगों का उद्देश्य तथा विश्वास कुछ दूसरा ही था और व्याख्यानों के दौरान वह कई बार व्यक्त भी हो गया। स्वामीजी ने बाद में एक पत्र में लिखा था, "ईसाई धर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठतर है यही प्रमाणित करने के लिए धर्ममहासभा का आयोजन हुआ था।" एक अन्य समय साक्षात्कार के दौरान उन्होंने कहा, "मुझे लगता है कि अन्य धर्मों का तमाशा बनाने के लिए ही धर्ममहासभा का आयोजन हुआ था।" कुछ लोग सोच सकते हैं कि जिस महासभा ने स्वामीजी को जगत् में परिचित कर दिया उसके विरुद्ध ऐसी टीका करना उचित नहीं था, परन्तु जिस प्रकार सभा का आयोजन तथा संचालन हुआ था, उसकी ओर गौर करने से समझ में आ जाएगा कि आयोजकों के अन्तर्हृदय में अन्य धर्मों के प्रति एक तरह के अश्रद्धा का भाव छिपा हुआ था और वे सहज भाव से विश्वास करते थे कि महासभा में ईसाई धर्म की विजय अवश्यम्भावी है। हाँ, उदारचेता लोगों का भी बिल्कुल अभाव न था। सभापति बोनी ही इनमें प्रमुख थे। परन्तु मूल प्रेरणा बोनी की होने के बावजूद सारे अधिकार फर्स्ट प्रेसबिटेरियन चर्च के धर्मनेता माननीय जॉन हेनरी बैरोज के हाथ में थे। कार्यकारिणी समिति के अध्यक्ष के रूप में उस सभा के समस्त आयोजनों का उत्तरदायित्व उन्होंने ही ग्रहण किया था। बैरोज ने अवश्य इसके लिए अक्लान्त परिश्रम किया, परन्तु वे अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति से ऊपर नहीं उठ सके थे। जब कट्टर ईसाईगण कहने लगे कि अन्य धर्मों को ईसाई धर्म के समान आसन पर बैठाना ईसाई धर्म का अपमान है, तो इसके उत्तर में बैरोज ने जो कुछ कहा, वह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा

था—"हमारा विश्वास है कि ईसाई धर्म अन्य सभी धर्मों का स्थान ले लेगा, क्योंकि बाकी धर्मों में जो सत्य हैं, वे सभी तो ईसाई धर्म में हैं ही, इसमें और भी अधिक सत्य हैं, क्योंकि यही धर्म एक अद्वितीय मुक्तिदाता भगवान के बारे में बोलता है। यह सत्य है कि प्रकाश के साथ अंधकार की मित्रता सम्भव नहीं, परन्तु अल्प आलोक के साथ उसका साहचर्य अवश्य हो सकता है। ऐसा कोई भी देश नहीं, जहाँ भगवान ने अपने सन्देश का प्रचार न किया हो और जिन्होंने क्रास के पूर्ण आलोक की उपलब्धि कर ली है, उन्हें चाहिए कि वे अल्पालोक में भटकने वालों के प्रति भ्रातृभाव का पोषण करें।" निश्चय ही यह सब धर्मों को सत्य मानना अथवा समानता का दर्जा देना नहीं है। कैंटेबेरी के आर्चबिशप ने महासभा में भाग लेने में अपनी अनिच्छा व्यक्त करते हुए स्पष्ट भाषा में लिखा था—"मैं दूरी अथवा सुयोग-सुविधा के चलते असुविधा का अनुभव नहीं कर रहा हूँ, बल्कि इसका कारण यह है कि ईसाई धर्म ही एकमात्र धर्म है। और मेरी समझ में यह नहीं आता कि अन्य आने वाले सदस्यों को समानता का दर्जा दिये बिना और उनके मतों व दावों की तुल्यता माने बिना, ईसाई धर्म किस प्रकार इसके एक अंग के रूप में गृहीत होगा।" बाद में महासभा का जो विवरण प्रकाशित हुआ, उसमें ईसाइयों का यह असहिष्णु मत ही अधिकांशतः दीख पड़ता है, उदार मत उसकी तुलना में अत्यल्प है और वह भी प्रायः सामान्य लोगों के ही मुख से उच्चरित हुआ है न कि धर्मयाजकों के मुख से। बैरोज ने जितनी सी उदारता दिखायी थी, अन्य धर्माचार्य उससे अधिक दिखाने को प्रस्तुत न थे और उन लोगों के मन के किसी कोने में यह आशा छिपी हुई थी कि

आखिरकार विजय ईसाई धर्म की ही होगी और महासभा इसी धर्म का विश्व भर में प्रचार करने में सहायक सिद्ध होगी। पुरोहितों के मन में ऐसी धारणा बद्धमूल होने के बावजूद आम अमेरिकी नर-नारियों ने एक उदार दृष्टिकोण के चलते ही इस कार्य में धन आदि से सहायता की थी और वे आग्रहपूर्वक महासभा की प्रतीक्षा कर रहे थे।

उद्देश्य आदि की बात छोड़ दें तो वास्तव में इस महासभा के रूप में विश्व के इतिहास में एक अद्‌भुत अभूतपूर्व घटना हुई। इसका पूरा-पूरा तात्पर्य और प्रभाव समझने में काफी काल लगेगा, क्योंकि इसके फलस्वरूप मानव के विचार-जगत् में जो गम्भीर परिवर्तन आरम्भ हुए हैं, उनका पूरा स्वरूप भविष्य में ही व्यक्त होगा। संसार के सभी अंचलों के लोग उसमें एकत्र हुए थे, अतः वास्तव में उसने न केवल धर्ममहासभा बल्कि विश्वमहासभा का रूप धारण किया था। इस महासभा में और कुछ न होकर यदि इतना भी प्रमाणित हो जाता कि मानव धर्म के बहुत्व के बीच भी एक एकत्व विद्यमान है और मानवतारूपी एकत्व के बीच भी बहुत्व को मानना अनिवार्य है, तो भी इस महासभा का गौरव अक्षुण्ण रहता। महासभा का और भी एक विशेष परिणाम उल्लेखनीय है : इसके द्वारा पाश्चात्यों की दृष्टि में प्राच्य धर्मों की मर्यादा काफी बढ़ गयी थी। महासभा की विज्ञान शाखा के अध्यक्ष श्रीयुत मरविन-मेरी स्नेल ने लिखा है—"इसकी एक सबसे बड़ी देन तो यह है कि इसने ईसाई समुदाय को और विशेषकर अमेरिकी जनता को यह अमूल्य शिक्षा दी है कि ईसाई धर्म की तुलना में उससे भी अधिक सम्माननीय और भी अनेक धर्म हैं जो दार्शनिक चिन्तन की गहनता, आध्यात्मिक भावसम्पदा,

स्वाधीन विचारधारा के तेज और मानवीय सहानुभूति के विस्तार में ईसाई धर्म को भी पीछे छोड़ जाते हैं, पर साथ ही नैतिक सौन्दर्य तथा कार्यकुशलता की दृष्टि से उससे बिन्दु मात्र भी न्यून नहीं हैं। हिन्दू, जैन, बौद्ध, यहूदी, कन्फ्यूशियन, शिन्तो, इस्लाम और पारसी—ये आठ गैर-ईसाई धर्म महासभा की चर्चाओं में उपस्थित थे।"

११ सितम्बर १८९३ ई. को सोमवार के दिन प्रातःकाल शिकागो आर्ट इन्स्टीट्यूट में महासभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। विश्व-मेला क्षेत्र में 'आर्ट पैलेस' नाम का जो एक अस्थायी विराट भवन बना था, यह उससे भिन्न था। ललित-कलाओं के स्थायी प्रदर्शनी के रूप में परिकल्पित यह 'आर्ट इन्स्टीट्यूट' मिशीगन एवेन्यू के ऊपर स्थित था और कला के नमूनों से तब भी वह सज्जित नहीं हुआ था। मेले के साथ इसका कोई सम्बन्ध न होने के बावजूद इसी के प्रकाण्ड कक्षों में मेले से सम्बन्धित अनेक समितियों के अधिवेशन हुए थे। प्रस्तर-खण्डों द्वारा प्राचीन पद्धति से निर्मित इस कला संग्रहालय के बृहत्तम पक्ष—'हाल ऑफ कोलम्बस'—में धर्ममहासभा का अधिवेशन हुआ था। ठीक दस बजे वहाँ उपस्थित दस धर्ममतों के नाम पर दस बार घण्टा-ध्वनि हुई। सभापति बोनी के मतानुसार वे प्रमुख धर्म थे–यहूदी धर्म, इस्लाम धर्म, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, ताओ धर्म, कन्फ्यूशियन धर्म, शिन्तो धर्म, पारसी धर्म, कैथॅलिक धर्म, ग्रीक चर्च और प्रोटेस्टेंट धर्म। उस समय कोलम्बस हाल की गैलरी में चार हजार से भी अधिक श्रोता उपस्थित थे; द्वार पर भी बहुत से लोग भीड़ किये खड़े थे। तथापि वे लोग इतने शान्त थे कि एक प्रत्यक्षदर्शी के मतानुसार उस समय "जब एक छोटी सी चिड़िया खुली

खिड़की से प्रविष्ट होकर मंच के ऊपर से उड़ गयी तो उसके पंखों की आवाज तक सुनाई दे रही थी।" हाल में बने हुए मंच की लम्बाई लगभग सौ फीट तथा चौड़ाई करीब पंद्रह फीट थी। मंच के पीछे हिब्रू तथा जापानी भाषा में दो उक्तियाँ लटक रही थीं, एक-दूसरे से लगभग चालीस फीट की दूरी पर स्थापित दो ग्रीक दार्शनिकों की विशाल मूर्तियाँ थीं। दार्शनिकों के बाद दाहिनी ओर सरस्वती-देवी के सदृश एक मूर्ति हाथ उठाये दण्डायमान थी। दोनों दार्शनिकों के बीच एक बड़ी अद्‌भुत चीज थी—लौहनिर्मित एक सिंहासन, जिस पर बैठने वाले थे अमेरिका के कैथॅलिक सम्प्रदाय के प्रधान धर्माधिकारी कार्डिनल गिबन्स; कार्डिनल के प्रति सम्मान जताने के लिए सिंहासन में थोड़ा वैशिष्ट्य होना आवश्यक था! सिंहासन के दोनों ओर प्रतिनिधियों तथा कार्यकर्ताओं के लिए तीन कतारों मे लकड़ी की तीस-तीस साधारण कुर्सियाँ लगायी गयी थीं वक्ताओं के लिए एक रोस्ट्रम भी था। अधिवेशन के दूसरे दिन से उस रोस्ट्रम से एक सूचना लटकती रहती थी—नीचे संवाददाताओं के लिए निर्दिष्ट स्थान में बिना अनुमति के प्रवेश निषिद्ध है। इसकी जरूरत पड़ी थी, क्योंकि विवेकानन्द आदि वक्ताओं के वस्त्र स्पर्श करने की इच्छा से धर्मोत्साही श्रोताओं की मंच के पास भीड़ लग जाती थी।

ठीक दस बजे प्रतिनिधिगण हाल में प्रविष्ट होक मंच की ओर अग्रसर हुए। आगे-आगे सभापति बोनी तथ कार्डिनल गिबन्स एक-दूसरे का हाथ पकड़े चल रहे थे उनके पीछे थीं मेले की महिला कार्यकारिणी समिति कं अध्यक्षा तथा उपाध्यक्षा (क्रमश: श्रीमती पॉटर पामर श्रीमती चार्ल्स सी. हेनरोटिन)। उसके पीछे प्रतिनिधिगण

पंक्तिबद्ध होकर, हाल के मध्यवर्ती पथ पर चलते, सभी देशों के राष्ट्रध्वजों के नीचे से तथा तुमुल हर्षध्वनि के बीच में अग्रसर होकर मंच पर आसीन हुए। कार्डिनल गिब्रन्स बीच में स्थित लौह सिंहासन पर विराजमान हुए। उनकी दाहिनी ओर बैठे श्वेतवस्त्रधारी पाँच चीनी धर्मयाजक और बायीं ओर काले वस्त्रों में आवृत्त ग्रीक चर्च के उच्चाधिकारीगण। इसके अरिरिक्त सफेद, काले, पीले, गेरुए आदि रंगों की विचित्र पोशाकों में सजे प्रतिनिधियों ने मच की शोभा बढ़ायी। उन्हीं में भारत से गये हुए प्रतिनिधिगण भी थे। अँगरखा तथा पगड़ी से सुशोभित सुन्दर एवं प्रतिभावान युवा संन्यासी विवेकानन्द भी वहीं बैठकर सबका ध्यान बरबस ही अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे। उनकी कुर्सी की संख्या थी इकतीस।

अचानक ही आर्गन बज उठा और सभी मिलकर भगवान की स्तुति गाने लगे। गाना समाप्त हुआ। उसी निस्तब्धता के बीच कार्डिनल गिबन्स ने अपने हाथ उठा लिए और बाइबिल से भगवान की 'सार्वजनिक प्रार्थना' का पाठ करने लगे–"हे हमारे स्वर्ग में रहने वाले पिता! आपके नाम की जय-जयकार हो," इत्यादि। महासभा की कार्यवाही आरम्भ हुई। सत्रह दिनों तक सुबह, दोपहर और शाम को प्रतिदिन तीन अधिवेशन होते थे। श्रोताओं की संख्या बढ़ते-बढते चौथे दिन भीड़ इतनी बढ़ी कि पास का 'हाल ऑफ वाशिंगटन' भी खोल दिया गया और उसमें भी मुख्य हाल के समान ही समस्त विषयों की पुनरावृत्ति की जाने लगी। पाँचवें दिन महासभा की विज्ञान शाखा की कार्यवाही आरम्भ हुई और श्रोतागण भी सामान्य और विज्ञान—इन दो विभागों में बँट गये। विज्ञान शाखा में अधिकांशत

धर्मविज्ञान आदि पाण्डित्यपूर्ण विषयों पर चर्चा होती थी, तथापि व्याख्यान देने के लिए स्वामीजी को वहाँ प्रायः ही उपस्थित रहना पड़ता था। उनके आकर्षण से बहुत से लोग वहाँ एकत्र हो जाते थे और इसके फलस्वरूप कोलम्बस हाल की भीड़ में काफी गिरावट आ गयी।

अधिवेशन के प्रथम दिन महासभा के आयोजकों ने प्रतिनिधियों का सादर स्वागत किया और प्रतिनिधियों ने उसका सक्षेप में उत्तर दिया। पूर्वाह्न में स्वागत-सूचक केवल सात व्याख्यान हो सके, जो बड़े ही वाग्मितापूर्ण थे और इसी में पूर्वाह्न का प्रायः सारा समय समाप्त हो गया— केवल आठ प्रतिनिधियों को ही संक्षिप्त उत्तर देने का अवसर मिल सका। प्रथम वक्ता जान्टे के आर्चबिशप ने अपना व्याख्यान प्रारम्भ करते हुए कहा, "सम्पूर्ण मानवजाति के स्रष्टा एक हैं, अतः वे एक भगवान ही सबके पिता हैं।" और अन्त में वे बोले, "मैं अपने दोनों हाथ उठाकर प्रीतिपूर्ण हृदय से संयुक्त राज्य अमेरिका के सुखी और गौरवशाली नागरिकों को आशीर्वाद करता हूँ।" इस पर अध्यक्ष बोनी ने कहा, "यह सचमुच ही गौरव की बात है।" और इसके साथ ही श्रोताओं की हर्षध्वनि से हाल गूँज उठा। ब्राह्मसमाज के प्रतिनिधि प्रतापचन्द्र मजूमदार दस वर्ष पूर्व अमेरिका में आकर ख्याति अर्जित कर चुके थे; 'प्राच्यदेशीय ईसा' नामक ग्रन्थ के लेखक के रूप में भी उनकी प्रसिद्धि थी। अतः उन्हें भी श्रोताओं की प्रशंसा मिली। चीन के प्रतिनिधि पुंग क्वाग यू के व्याख्यान के पूर्व प्रेसीडेण्ट बोनी ने कहा, "हमने इस देश में चीन के प्रति उचित सद्व्यवहार नहीं किया।" अतः पुग क्वाग यू का व्याख्यान पूरा होने के साथ ही साथ हाल प्रशसा से उन्मत्त हो उठा।

सभा की कार्यवाही इसी प्रकार अग्रसर हो रही थी, और इधर स्वामीजी मन ही मन भगवान से प्रार्थना कर रहे थे कि वे उन्हें इस विराट विद्वत्-समुदाय के सम्मुख भारत का सन्देश रखने के योग्य शक्ति प्रदान करें। उन्हें कई बार व्याख्यान के लिए बुलाया गया, परन्तु हर बार उन्होंने कहा, "नहीं, अभी नहीं।" बारम्बार ऐसा ही होने पर अध्यक्ष के मन में सन्देह हुआ, "आखिरकार ये भाषण देना भी चाहते हैं या नहीं? स्वामीजी ने स्वयं भी महासभा के आरम्भ का वर्णन तथा अपने तत्कालीन मनोभाव को व्यक्त करते हुए २ अक्टूबर को प्राध्यापक राइट के नाम अपने पत्र में लिखा है—"विश्व के बड़े-बड़े विचारकों तथा वक्ताओं की उस सभा के सम्मुख खड़े होने और बोलने में पहले तो मुझे बड़ा भय लग रहा था। ...महासभा में मैं बिल्कुल आखिरी मुहूर्त में पहुँचा और वह भी बिना किसी तैयारी के! ...परन्तु ईश्वर ने मुझे शक्ति दी।" आलासिंगा को लिखे उनके पत्र में और भी विशद विवरण मिलता है—"महासभा के उद्घाटन वाले दिन सुबह हम लोग 'आर्ट पैलेस' नामक भवन में एकत्र हुए। ...सभी राष्ट्रों के लोग वहाँ आए हुए थे। भारतवर्ष से ब्राह्मसमाज के प्रतिनिधि प्रतापचन्द्र मजूमदार महाशय थे, बम्बई से नगरकर आए थे, जैन धर्म के प्रतिनिधि वीरचन्द गाँधी थे और थियॉसफी के प्रतिनिधि श्रीमती एनी बेसेन्ट तथा चक्रवर्ती थे। इनमें मजूमदार मेरे पुराने मित्र और चक्रवर्ती मेरे नाम से परिचित थे। ...बड़े शानदार जुलूस के बाद हम लोग मंच पर बिठाए गए। कल्पना करो, नीचे एक हाल और ऊपर एक बहुत बड़ी गैलरी, जिनमें इस देश के चुने हुए छह-सात हजार सुसस्कृत नर-नारी खचाखच भरे हैं तथा मच पर संसार के सभी

राष्ट्रों के बड़े-बड़े विद्वान एकत्र हैं। और मुझे, जिसने अब तक कभी सार्वजनिक सभाओं में भाषण नहीं दिया, इस विराट जन-समुदाय के समक्ष भाषण देना होगा! बड़े समारोह के साथ संगीत और भाषणों से सभा का उद्घाटन हुआ। तदुपरान्त एक-एक कर सभा में आए प्रतिनिधियों का परिचय दिया गया और वे सामने आ-आकर अपने व्याख्यान देने लगे। निःसन्देह मेरा हृदय धड़क रहा था और जिह्वा प्रायः सूख गयी थी। मैं इतना घबड़ाया हुआ था कि सबेरे बोलने की हिम्मत ही नहीं हुई। मजूमदार की वक्तृता सुन्दर रही। चक्रवर्ती की तो उससे भी सुन्दर रही। खूब तालियाँ बजी। ये लोग अपने भाषण तैयार करके लाए थे। मैं अबोध था और बिना किसी तैयारी के आ पहुँचा था।''

अपराह्न में चार और प्रतिनिधियों के लिखित भाषण हो जाने के बाद पुनः स्वामीजी को बुलाया गया। उन्होंने लिखा है– ''देवी सरस्वती को प्रणाम करके मैं आगे बढ़ा और डॉ. बैरोज ने मेरा परिचय दिया। मेरे गैरिक वस्त्रों के कारण श्रोताओं का ध्यान किंचित् आकृष्ट हुआ था; अमेरिकावासियों को धन्यवाद तथा और भी दो-एक बातें कहकर मैंने एक छोटा सा व्याख्यान दिया। जब मैंने 'अमेरिकावासी बहनो तथा भाइयो' कहते हुए सभा को सम्बोधित किया, तो इसके साथ ही दो मिनट तक ऐसी घोर करतल-ध्वनि हुई कि कानों में अँगुली देते ही बनी। तब मैंने बोलना आरम्भ किया। और जब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करके बैठा, तो भावावेग से मानो मैं अवश हो गया था। अगले दिन सभी अखबारों में छपा कि मेरा भाषण ही उस दिन सर्वाधिक मर्मस्पर्शी बन पड़ा था। अतः पूरा अमेरिका मुझे जान गया। महान टीकाकार श्रीधर ने सत्य ही लिखा

है, 'मूकं करोति वाचालम्'— अर्थात् जिन प्रभु की कृपा गूँगे को भी धाराप्रवाह वक्ता बना देती है, उनकी जय हो! उसी दिन से मैं विख्यात् हो गया और जिस दिन मैंने हिन्दू धर्म पर अपनी वक्तृता पढ़ी, उस दिन तो हाल में इतनी भीड़ हुई, जितनी पहले कभी नहीं हुई थी।"

पहले दिन के व्याख्यान के प्रारम्भ में हुई हर्षध्वनि के विषय में डॉ. बैरोज ने लिखा था, "श्रीयुत विवेकानन्द ने जब श्रोताओं को 'बहनो और भाइयो' कहकर सम्बोधित किया था, तो उस समय एक तुमुल करतलध्वनि उठकर कई मिनट तक जारी रही।" श्रीमती एस. के. ब्लाजेट ने उस दिन का वर्णन करते हुए कहा था, "१८९३ ई. के शिकागो धर्ममहासभा में मैं उपस्थित थी। उस युवक ने जब उठकर कहा, 'मेरे अमेरिकावासी बहनो और भाइयो' तो सात सहस्र नर-नारियों ने खड़े होकर एक ऐसी शक्ति के प्रति सम्मान व्यक्त किया, जिसके बारे में वे कुछ समझ नहीं सके थे। व्याख्यान समाप्त हो जाने पर मैंने देखा कि सैकडों महिलाएँ बेंचों के ऊपर से होकर उनके निकट पहुँचने का प्रयास कर रही हैं। तब मैंने मन ही मन कहा, 'बेटा, यदि तुम इस आक्रमण के सामने अपना मस्तिष्क ठीक रख सके, तो मैं समझूँगी कि तुम साक्षात् भगवान हो!' "

मस्तिष्क वे अपना ठीक ही रख सके थे और उनका हृदय भी पहले के ही समान भारत के दुःख-दारिद्रय के विचारों से परिपूर्ण था। महासभा में एक प्रतिष्ठित राष्ट्र के गणमान्य लोगों द्वारा मुक्तकण्ठ से एक विजयी वीर के रूप में अभिनन्दित होकर भी, और उस रात शिकागो के एक धनकुबेर के सुसज्जित भवन में राजोचित सेवा के अधिकारी होकर भी, वे निद्रा-सुख का उपभोग नहीं कर सके। उस

चकाचौंधपूर्ण वातावरण में उनका मन आनन्द पाने की जगह विषाद में डूब गया। शय्या पर लेटते ही भारत की निर्धनता और वहाँ व्याप्त अतुल ऐश्वर्य के बीच की भयानक खाई ने मानों उनका श्वास अवरुद्ध कर दिया, पलंग पर लगी शय्या उन्हें कंटकाकीर्ण प्रतीत होने लगी। तकिया उनके नेत्रों के जल से गीला हो गया। बिस्तर से उठकर वे खिड़की के पास जा खड़े हुए और उदास दृष्टि लिए अन्धकाराच्छन्न सुदूर में ताकने लगे—दुःख से मानो तब वे अभिभूत हो उठे थे। अन्त में भावावेग को और सह पाने में असमर्थ होकर वे धरती पर लेट गए और रो-रोकर कहने लगे, "माँ, मैं इस नाम-यश को लेकर क्या करूँ, जबकि मेरे देशवासी घोर निर्धनता में डूबे हुए हैं? हम गरीब भारतवासी ऐसी बुरी हालत तक पहुँच गए हैं कि मुट्ठी भर अन्न के अभाव में लाखों लोग प्राण त्याग देते हैं और यहाँ लोग अपने व्यक्तिगत सुख-स्वाच्छन्द्य के लिए लाखों रुपए खर्च करते हैं। भारत की जनता को कौन उठाएगा? कौन उनके मुख में अन्न देगा? मैं उनकी किस प्रकार सेवा कर सकता हूँ? माँ मेरा पथप्रदर्शन करो!" हमारा विश्वास है कि यह घटना ल्योन परिवार के भवन में ही हुई थी और महासभा की पहले दिन की कार्यवाही समाप्त हो जाने पर उसी सन्ध्या को स्वागत सम्मेलन हुआ, तदुपरान्त काफी रात गए स्वामीजी उसी भवन में आए थे। शिकागो पहुँचने पर दूसरी रात (१० सितबर) उन्होंने हेल परिवार के साथ अथवा अन्यत्र बितायी थी—यह बता पाना कठिन है। ल्योन परिवार काफी धनाढ्य था, दक्षिणी प्रान्त में उनकी चीनी-मिलें थीं।

प्रथम दिन का व्याख्यान बड़ा ही सक्षिप्त हुआ, परन्तु

उसका भाव इतना उदार एवं सर्वव्यापी था और उसके प्रत्येक वाक्य के साथ वक्ता की भावुकता, सत्यनिष्ठा तथा निष्कपटता इतने स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हुई थी कि उसका प्रभाव बड़ा गम्भीर एवं दीर्घकालव्यापी हुआ था। इस प्रथम भाषण में उन्होंने 'संसार में संन्यासियों की सबसे प्राचीन परम्परा की ओर से' तथा जो देश सर्व धर्मों की माता के समान है, उसके नाम पर अमेरिकावासी नर-नारियों को धन्यवाद प्रदान किया। उन्होंने घोषणा की, "हम लोग न केवल सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता में विश्वास करते हैं, अपितु हम सभी धर्मों को सच्चा मानकर उन्हें स्वीकार करते हैं। ...जैसे विभिन्न नदियाँ विभिन्न स्रोतों से निकलती हैं, परन्तु अपनी जलराशि को एक ही समुद्र में ढालकर एकाकार कर देती हैं, उसी प्रकार हे प्रभो, अपनी अपनी रुचि की विभिन्नता के अनुसार जो लोग सरल या टेढ़े-मेढ़े विविध मार्गों से चलते हैं—तुम्हीं उन सबके एकमात्र लक्ष्य हो। ...आज सुबह इस सभा के सम्मान में जो घण्टा-ध्वनि हुई है, वह ...एक ही ओर अग्रसर हो रहे मनुष्यों की पारस्परिक कटुताओं का मृत्यु-निनाद सिद्ध हो।" महासभा के आकांक्षा तथा उद्देश्य की बात और कोई भी इतनी विदग्धतापूर्ण व स्पष्ट भाषा में व्यक्त नहीं कर सका, अत: विवेकानन्द ने श्रोताओं का हृदय जीत लिया। परन्तु ऐसा सोच लेना गलत होगा कि यह विजय केवल उनकी वाक्पटुता, बुद्धिमत्ता तथा उदार दृष्टिकोण के फलस्वरूप प्राप्त हुई थी और श्रोताओं के मन को एक असाधारण चेतना में पहुँचाकर उन्हें एक सूत्र में ग्रथित करके के लिए, लोकचक्षुओं के परे कोई अन्य अदृष्ट आध्यात्मिक शक्ति क्रियाशील नहीं थी। हमें तो 'निउ डिस्कवरीज' ग्रन्थ की

लेखिका श्रीमती बर्क का मत समीचीन प्रतीत होता है। उन्होंने लिखा है, "दूसरों के व्याख्यान के समय हर्षध्वनि होने के कारण स्पष्ट हैं—श्रोताओं की राजीनीतिक या स्वधार्मिक सहानुभूति, वक्ता के साथ पहले से परिचय अथवा तिरस्कृत जातियों के प्रति अपने पिछले अन्यायों का प्रायश्चित्त, आदि। परन्तु स्वामीजी के बारे में ऐसा कुछ भी नहीं था। ऐसा भी नहीं कहा जा सकता कि उनकी वाग्मिता के कारण हर्षध्वनि उठी होगी, क्योंकि सुबह के पूरे सत्र में तथा अपराह्ण के भी आधे समय तक केवल विश्वबन्धुत्व की ही बातें तो कही जा रही थीं। ...जैसा कि श्रीमती ब्लाजेट ने भी कहा है कि सारी श्रेतृमण्डली निश्चय ही नहीं बता पाती कि स्वामीजी के पहले शब्द सुनते ही क्यों वह हर्षध्वनि कर उठी थी। ...बल्कि यह कहना होगा कि स्वयं स्वामीजी तथा उनके शब्दों में छिपी किसी अव्यक्त वस्तु ने ही उन्हें प्रकार अनुप्राणित कर दिया था कि उनकी वाणी खोखले भावुकता मात्र के रूप में न निकलकर वास्तविक सत्य के रूप में आविर्भूत हुई थी और उसने सबके हृदय में एक चिरविस्मृत आत्मिक एकता का बोध जाग्रत कर दिया था - वह एक ऐसी स्मृति थी, जो उसी समय से अदृष्ट, पर अदम्य-शक्ति के साथ कार्यशील होगी और इसके फलस्वरूप सभ्यता का रूप बदलेगा तथा धर्मसमन्वय की स्थापना होगी।"

स्वामीजी के पश्चात् और भी चार व्याख्यान हुए; अर्थात् पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण में कुल मिलाकर चौबीस व्याख्यानों के बाद ११ सितंबर की कार्यवाही समाप्त हुई। इसके बाद प्राय: प्रतिदिन ही स्वामीजी को या तो सार्वजनिक महासभा में अथवा उसकी विज्ञान शाखा में

व्याख्यान देने पड़े थे। सभी व्याख्यानों में बहुत से लोगों का आगमन होता और स्वामीजी के व्याख्यान के समय उसी प्रकार का हर्षोल्लास दीख पड़ता। उन्होंने स्वयं ही आलासिंगा को लिखा था—"एक समाचार पत्र का कुछ अंश उद्धृत करता हूँ, 'केवल महिलाएँ ही महिलाएँ—हर कोने में, जिधर भी देखो ठसाठस भरी हुई दिखाई पड़ती थीं। अन्य समस्त व्याख्यानों के समाप्त होने तक वे किसी प्रकार धैर्यपूर्वक विवेकानन्द के व्याख्यान के लिए बाट जोहती रहीं' इत्यादि। समाचार-पत्रों में मेरे बारे में जो सब बातें निकली हैं, उनकी कतरनें यदि मैं तुम्हें भेजूँ, तो तुम आश्चर्यचकित रह जाओगे। पर तुम जानते ही हो कि मैं नाम-यश से घृणा करता हूँ। इतना ही बताना पर्याप्त होगा कि जब भी मैं मंच पर जाता था तो कर्णभेदी करतलध्वनि से मेरा स्वागत होता था। प्रायः सभी पत्रों ने मेरी प्रशंसा के पुल बाँध दिये और उनमें से जो बड़े ही कट्टर थे, उन्हें भी मानना पड़ा कि 'यह सुन्दर और आकर्षक व्यक्तित्व का आश्चर्यजनक वक्ता ही महासभा का सबसे प्रमुख आकर्षण रहा' इत्यादि। तुम्हारे लिए इतना ही जान लेना यथेष्ट होगा कि इसके पूर्व कभी किसी भी प्राच्य व्यक्ति ने अमेरिकी समाज पर इतना गहरा प्रभाव नहीं डाला।"

आलासिंगा आदि के साथ स्वामीजी का एक अति आन्तरिक प्रेम-सम्बन्ध था। उन लोगों ने कितना कष्ट उठाकर धन-संग्रह किया और उन्हें अमेरिका भेजने की व्यवस्था की। अतः नाम-यश की आकांक्षा न होते हुए भी स्वामीजी ने उन लोगों को अपनी उपलब्धि का एक संक्षिप्त विवरण भेजना आवश्यक समझा। वह पत्र महासभा के काफी बाद २ नवंबर १८९३ ई. को लिखा गया था, अर्थात्

तुरन्त ही आनन्द में उत्फुल्ल होकर वे अपनी बड़ाई लिखने नहीं बैठ गए। ठीक इसी भाव से और यह समझाने के लिए कि वे भारत तभी क्यों नहीं लौट रहे हैं, उन्होंने जूनागढ़ के दीवानजी साहब को लिखा था, "मैं न तो निरुद्योगी पर्यटक हूँ और न ही दृश्य देखते हुए भ्रमण करने वाला यात्री। यदि आप जीवित रहे तो मेरा कार्य देख पाएँगे और आजीवन मुझे आशीर्वाद देंगे। ...मैं धर्ममहासभा में बोला था और उसका क्या फल हुआ, यह बताने के लिए जो दो-चार पत्र-पत्रिकाएँ मेरे पास पड़ी हैं, उन्हीं से कुछ उद्धरण भेजता हूँ। मेरी डींग हाँकने की इच्छा नहीं है, परन्तु आपके प्रेम के कारण आप में विश्वास करके मैं इतना अवश्य कहूँगा कि इसके पहले किसी भी हिन्दू ने अमेरिका को ऐसा प्रभावित नहीं किया, और मेरे आने से यदि कुछ भी न हुआ हो, तो इतना अवश्य हुआ है कि अमेरिकनों को यह मालूम हो गया है कि भारत में आज भी ऐसे मनुष्य उत्पन्न हो रहे हैं, जिनके चरणों में सभ्य से सभ्य राष्ट्र भी नीति और धर्म का पाठ पढ़ सकते हैं। ...कुछ पत्रिकाओं के अश नीचे उद्घृत करता हूँ—

" सक्षिप्त भाषणों में से अधिकांश वाग्मितापूर्ण थे तथापि किसी ने भी धर्ममहासभा की मूलनीति तथा उसकी सीमाओं का उतने अच्छे ढग से वर्णन नहीं किया, जितना कि उस हिन्दू संन्यासी ने। मैं उनका पूरे का पूरा भाषण उद्धृत करता हूँ, पर श्रोताओं पर इसका जो प्रभाव पडा उसके विषय में केवल इतना ही कह सकता हूँ कि वे एक दैवी-अधिकार-सम्पन्न वक्ता हैं। और वे अपनी सरल उक्तियों को जिस मधुर भाषा में व्यक्त करते थे, वह उनके गैरिक वस्त्र तथा बुद्धिदृप्त तेजस्वी मुखमण्डल की अपेक्षा कम

आकर्षक नहीं थे।' उसी पृष्ठ पर आगे लिखा है—'उनकी शिक्षा, वाग्विदग्धता तथा मनमोहक व्यक्तित्व ने हमारे सम्मुख हिन्दू सभ्यता की एक नवीन धारा का उद्‌घाटन किया है। उनके प्रतिभादीप्त मुखमण्डल तथा गम्भीर व सुललित कण्ठस्वर ने लोगों को अनायास ही वश में कर लिया है और अपनी इस भाग्यलब्ध सम्पदा की सहायता से इस देश के अनेक गिरजों और क्लबों में उनके प्रचार के फलस्वरूप अब हम उनके धर्ममत से परिचित हो चुके हैं। वे किसी प्रकार की तैयारी करके व्याख्यान नहीं देते। अपितु वे अपने वक्तव्य को धाराप्रवाह रूप में कहते हुए अपूर्व कौशल तथा आन्तरिकता के साथ निष्कर्ष तक पहुँचते हैं और अन्तर की गहन प्रेरणा कभी-कभी उनके भाषण को अपूर्व वाग्मिता से युक्त कर देती है।' (न्यूयार्क क्रिटिक)

" 'विवेकानन्द निश्चय ही धर्ममहासभा के महानतम व्यक्ति हैं। उनके व्याख्यान सुनने के बाद हमारी समझ में आ जाता है कि उस ज्ञानी राष्ट्र में धर्मप्रचारक भेजना कैसी मूर्खता है!' (हेराल्ड—यहाँ का सबसे बड़ा समाचार-पत्र)।

"अब और नहीं उद्‌धृत करूँगा, अन्यथा आप मुझे दाम्भिक न समझ बैठें। ...अब इन उद्‌धृत अंशों को पढ़ने के बाद क्या आपको लगता है कि भारतवर्ष से एक सन्यासी को इस देश में भेजना उचित हुआ है? कृपया इस पत्र को प्रकाशित न करें। यहाँ भी अपना नाम करवाने से मुझे वैसी ही घृणा है, जैसी भारत में थी। मैं प्रभु का कार्य किये जा रहा हूँ...।"

महासभा के अधिवेशन जितने दिन जारी रहे, उतने दिन प्रतिनिधियों को बड़ा व्यस्त रहना पड़ा। महासभा

तथा उसकी विज्ञान शाखा के व्याख्यान तो थे ही, इसके अतिरिक्त उन लोगों को महासभा के बाहर भी उससे सम्बन्धित या असम्बन्धित अनेक सभा, समिति, सम्मेलनों आदि में भाग लेना पड़ता था। स्पष्ट है कि महासभा के श्रेष्ठतम एवं सर्वाधिक लोकप्रिय वक्ता स्वामी विवेकानन्द को इन कुछ दिनों के दौरान विश्राम नहीं मिला। वैसे इन समस्त व्याख्यानों का पूरा विवरण नहीं मिलता। जहाँ तक पता चल सकता है, वह इस प्रकार है - धर्ममहासभा में ११ सितबर को अपने प्रथम व्याख्यान के पश्चात् १५ सितम्बर, शुक्रवार को अपराह्न में स्वामीजी ने कूपमण्डूक की कहानी बतायी। १९ सितबर को उन्होंने हिन्दू धर्म पर अपने लिखित व्याख्यान को पढ़ा। २० तारीख को आम-चर्चा में भाग लेकर उन्होंने ईसाई धर्मप्रचारकों के अशोभन क्रिया-कलापों के विषय में किंचित् आलोचना की। २६ को उन्होंने बौद्ध धर्म के साथ हिन्दू धर्म के सम्बन्धों पर चर्चा की। २७ को उनका विदाई का भाषण हुआ। श्रीमती बर्क के मतानुसार महासभा में प्रदत्त इन व्याख्यानों के अतिरिक्त भी उसकी विज्ञान शाखा में स्वामीजी के सम्भवतः आठ भाषण हुए थे। उनमें से कुछ के विषय तथा तिथि का पता चला है, जो इस प्रकार हैं— 'आस्तिक हिन्दू धर्म और वेदान्त दर्शन'— शुक्रवार, २२ दिसम्बर पूर्वाह्न साढ़े दस बजे। 'भारत के वर्तमान धर्म' उसी दिन अपराह्न में पूर्वप्रदत्त भाषणों के विषय में—शनिवार २३, सितम्बर। 'हिन्दू धर्म का सार-तत्त्व' - सोमवार, २५ सितम्बर। और भी कुछ व्याख्यानों तथा स्वागत-समारोहों के सवाद मिलते हैं। महासभा के प्रथम दिन के अधिवेशन के पश्चात् शाम के समय प्रतिनिधियों का शिकागो के गणमान्य समाज के साथ

परिचय कराने के निमित्त श्रीयुत एस.टी. बारलेट के प्रस्तर निर्मित प्रासाद में डॉ. बैरोज ने जिस विराट् स्वागत-सभा का आयोजन किया था, उसमें काफी रात तक भोजन तथा आमोद-प्रमोद चलता रहा। द्वितीय रात्रि को प्रेसीडेण्ट बोनी ने महासभा के सभी प्रतिनिधियों के सम्मानार्थ आर्ट इन्स्टीट्यूट के हॉलों में एक और भी बृहत् प्रीति-सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें हजारों लोग सम्मिलित हुए थे। महासभा की चतुर्थ रात्रि (१४ सितम्बर) को विश्वमेले के महिला व्यवस्थापकों की अध्यक्ष श्रीमती पॉटर पामर ने जैक्सन पार्क स्थित महिला-भवन में महासभा के प्रतिनिधियों के लिए एक सुन्दर प्रीति-सम्मेलन बुलाया और अनेक प्रकार से उनके मनोरंजन की व्यवस्था भी की। श्रीमती पामर की इच्छानुसार कुछ वक्ताओं ने भिन्न-भिन्न देश की महिलाओं के बारे में व्याख्यान दिए। स्वामीजी भारतीय नारी के सम्बन्ध में बोले। अन्य वक्ता थे—आर्च बिशप जान्टे, धर्मपाल, मजूमदार तथा पुंग क्वांग यू।* 'शिगाको डेली इन्टरओशन' नामक पत्रिका के २३ सितबर के विवरण से पता चलता है कि पिछले दिन शाम को आर्ट इन्स्टीट्यूट के ७ नं. हॉल में 'प्राच्य महिलाएँ—उनकी वर्तमान एवं भावी अवस्था' विषय पर जो व्याख्यान हुए, उसमें स्वामीजी ने 'प्राच्य नारी' के बारे में अपना भाषण दुहराया। इस व्याख्यान-माला के घोषणा पत्र से पता चलता है कि इसमें इब्राहिम हैके बे, धर्मपाल, मजूमदार तथा के. आर. हिरइ ने भी भाग लिया था। शिकागो के अन्य समाचार-पत्रों में भी इस खबर की पुष्टि की गयी थी।**

* वर्ल्ड पार्ल्यामिण्ट ऑफ रेलिजन्स, डॉ बैरोज, खण्ड-१, पृ. १५६
** 'प्रबुद्ध भारत', अप्रैल १९७८ ई.

फिर २५ तारिख, रविवार को प्रातःकाल उन्होंने लैफ्लिन और मनरो स्ट्रीट पर स्थित थर्ड यूनिटेरियन चर्च में 'ईश्वर-प्रेम' विषय पर व्याख्यान दिया। इसके अतिरिक्त शिकागो के धनाढ्य परिवारों तथा धर्माचार्यों के घर में और भी अनेक सम्मेलनों का आयोजन हुआ था। अतः बाद में जब स्वामीजी ने लिखा, "इस देश के अधिकांश सम्पन्न परिवारों के द्वार मेरे लिए उन्मुक्त हो गए हैं," तो इसमें जरा सी भी अतिशयोक्ति न थी। उन दिनों वे शिकागो के समाज में सर्वत्र आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।

ईसाई लोगों की उपासना की सुविधा की दृष्टि से रविवार के पूर्वाह्न को छोड़ महासभा का अधिवेशन प्रतिदिन तीन बार बैठता था और ऐसा प्रत्येक अधिवेशन ढाई से तीन घण्टों तक चलता रहता था। आवश्यकता के अनुसार विभिन्न अधिवेशनों में नए-नए लोग सभापतित्व करते थे। इसी प्रकार १३ सितम्बर के सान्ध्य अधिवेशन का सभापतित्व स्वामीजी ने किया था। इन सभाओं में प्रतिदिन आरम्भ में सभी लोगों को खड़े होकर भगवान से प्रार्थना करने को कहा जाता था कि सभा का कार्य सुचारू से सम्पन्न हो। तदुपरान्त सबके खड़े रहते ही कोई पूर्वनिर्दिष्ट व्यक्ति 'हे हमारे स्वर्ग में रहने वाले पिता!' आदि प्रार्थना करता था। वक्ताओं को आम तौर पर आधे घण्टे का समय दिया जाता था, परन्तु लोकप्रिय वक्ताओं के लिए यह नियम कठोर नहीं था। स्वामीजी उनमें एक विशिष्ट वक्ता थे और सभा में श्रोताओं को पकड़े रखने अथवा व्यवस्था बनाए रखने के लिए अनेक बार उनकी इस लोकप्रियता का लाभ उठाया जाता था। 'दि बोस्टन इवनिंग ट्रान्सक्रिप्ट' पत्र में उनके बारे में लिखा गया था—"अपने अद्भुत विचारों तथा

मोहक व्यक्तित्व के कारण वे महासभा में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। उनके मंच से होकर गुजरने मात्र से लोग हर्षध्वनि करने लगते हैं। हजारों व्यक्तियों द्वारा व्यक्त यह विशेष सम्मान वे तनिक भी गर्व के बिना बालसुलभ सन्तोष के साथ स्वीकार करते हैं। ...महासभा के सचालकगण विवेकानन्द के भाषण का कार्यक्रम सबके अन्त में रखते थे, ताकि लोग सभा समाप्त होने तक बैठे रहें। किसी किसी गरम दिन, जब किसी के नीरस निष्प्राण सुदीर्घ भाषण के फलस्वरूप सैकड़ों लोग उठाकर हॉल के बाहर जाने लगते, तब सभापति उठकर घोषणा करते कि सभा के अन्त में, भगवान से आशीर्वाद के लिए प्रार्थना के ठीक पहले स्वामी विवेकानन्द कुछ कहेंगे। इसके साथ ही वे सैकडों श्रोता शान्तिपूर्वक बैठ जाते। विवेकानन्द का पन्द्रह मिनट का व्याख्यान सुनने की आशा में कोलम्बस हॉल के चार सहस्र श्रोता (पसीने में भीगे) पंखा डुलाते आनन्दपूर्वक एक-दो घण्टे अन्य वक्ताओं के भाषण सुनते रहते। सर्वोत्तम को आखिर में रखने की प्राचीन रीति सभापति को विदित थी।"

'नार्दम्पटन डेली हेराल्ड' के ११ अप्रैल १८९४ ई के अंक में लिखा गया था—"कार्यक्रम के अन्त में ही विवेकानन्द का भाषण रखा जाता था, इसका उद्देश्य था लोगों को आखीर तक बैठाए रखना। किसी गरम दिन जब किसी नीरस वक्ता के लम्बे भाषण के फलस्वरूप सैकडों लोग सभागृह से बाहर निकलने लगते, तब उस विराट् श्रोतृमण्डली को पकड़े रहने के लिए केवल इतनी घोषणा ही यथेष्ट होती कि अन्तिम प्रार्थना के पूर्व विवेकानन्द थोडा-सा कुछ कहेंगे। और उन स्वनामधन्य व्यक्ति के पन्द्रह मिनट

का व्याख्यान सुनने के लिए वे घण्टों बैठे रहते।"

'ऐरेना' नामक सामयिक पत्रिका के जनवरी १८९५ ई. के अंक में अपने एक लेख में श्री वीरचन्द गाँधी ने भी यही बात कही कि अधीर श्रोताओं को पकड़े रहने के लिए भारतीय वक्ताओं का व्याख्यान अन्त में रखा जाता था। कहना न होगा कि स्वामीजी ही उन विशिष्ट व्यक्तियों में श्रेष्ठतम थे।

महासभा की कार्यवाही जारी है, विभिन्न धर्मों के प्रतिनिधि अपना-अपना वक्तव्य कहते जा रहे हैं। महासभा के बाहर भी विविध सम्मेलनों में उनके भाषण चल रहे हैं और प्रतिदिन विवेकानन्द की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। इस प्रकार गैर-ईसाई धर्मों ने लोगों के मन पर कितना गहरा प्रभाव डाला था, यह 'ओपेन कोर्ट' नामक सामयिक पत्रिका के १२ अक्टूबर १८९३ के अक में छपी एक कविता में अभिव्यक्त हुआ है। कवि ने लिखा है—"तब मैंने सुनी उस हिन्दू सन्यासी की बातें, जो गैरिक वस्त्र पहने था, जिसने कहा कि सम्पूर्ण मानवता ईश्वर का अंश है और उसमे बिल्कुल भी न्यून नहीं है। और उसने कहा कि हम पापी नहीं हैं, अत: मेरे मन में पुन: शान्ति लौट आयी और धर्ममहासभा ने इसके समर्थन में हर्षध्वनि की।" किसी प्राच्यदेशीय वक्ता ने जानबूझकर ईसाई धर्म के विरुद्ध कुछ कहा नहीं, तथापि उनका नवीन सन्देश अमेरिकावासियों का हृदय जय कर रहा था और मिशनरीगण प्राच्य जगत् को जैसा असभ्य कहकर प्रचारित करते थे, वह ऐसा नहीं है यह देखकर मिशनरियों के प्रति उनकी श्रद्धा का लोप होने लगा। इस पर कट्टर ईसाई अधीर हो उठे और यह जानते हुए भी कि महासभा में प्रत्यक्ष रूप से धार्मिक कटुता फैलाने

का अवसर नहीं है, वे लोग अन्य धर्मों और विशेषकर हिन्दू धर्म के विरुद्ध विषवमन करने लगे। महासभा के प्रथम दस दिनों के दौरान ईसाई धर्म के विभिन्न पक्षों पर विस्तारपूर्वक चर्चा हुई। अधिवेशन के तीसरे दिन ही मौका देखकर 'लण्डन मिशनरी सोसायटी' के धर्मप्रचारक टॉमस एबेनजर स्लेटर ने बाइबिल और वेद की तुलना करते हुए बताया कि केवल बाइबिल में ही ईश्वर के अनन्त कृपा की बात है, वेद में नहीं। चौथे दिन बोस्टन के धर्मप्रचारक जोसेफ कुक ने 'मनुष्य पापी है' आदि बातें बड़ी अच्छी तरह समझायी और कहा कि ईश्वर के साथ जीव के सम्बन्ध, जीव के मुक्ति तथा पाप के स्वरूप आदि विषयों की व्याख्या के मामले में जगत् का कोई भी धर्म ईसाई धर्म की बराबरी नहीं कर सकता। उन लोगों का सुर इसी प्रकार चढ़ता रहा और जिस दिन (१९ सितम्बर को) स्वामीजी ने हिन्दू धर्म पर अपना निबन्ध पढ़ा, उस दिन उन लोगों ने मानो जानबूझकर ही हिन्दू धर्म पर अपना आक्रमण चरम सीमा तक पहुँचा दिया। महासभा के उस नवम दिन मानो एक तुमुल युद्ध के आसार दीख पड़े। उस दिन हुई घटना का वर्णन करते हुए आइवा के एक समाचार पत्र ने २९ सितंबर को लिखा था—"रेवरेण्ड कुक ने हिन्दुओं की निर्मम भाव से आलोचना की और बदले में उनकी और भी निर्ममतापूर्वक आलोचना हुई।" उक्त 'हिन्दू धर्म' शीर्षक निबन्ध का पाठ होने के थोड़े पूर्व की अवस्था का वर्णन करते हुए शिकागो डेली ट्रिब्यून ने २० सितंबर को लिखा—"तब डॉ. नोबल ने आगामी वक्ता के रूप में स्वामीजी के नाम की घोषणा की और उनके आनन्दपूर्ण मुखमण्डल तथा दीप्त नेत्रों के साथ मंच के बीच में पहुँचने पर विपुल हर्षध्वनि हुई। ईसाई

राष्ट्रों के विरुद्ध हिंस्र आक्रमण करते हुए वे बोले—'हम लोग जो प्राच्य जगत् से आए हैं, यहाँ दिन पर दिन बैठकर ऐसी शेखी भरी बातें सुनते रहे हैं कि हम लोगों को ईसाई हो जाना चाहिए, क्योंकि ईसाई राष्ट्र ही सर्वाधिक ऐश्वर्यशाली हैं। आस-पास नजर दौड़ाने पर हमारी दृष्टि दुनिया के सर्वाधिक समृद्ध राष्ट्र इंग्लैंड की ओर जाती है, जिसके पाँवों के नीचे २५ करोड़ एशियावासियों की गरदन है। अतीत के इतिहास का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि ईसाई यूरोप की समृद्धि का सूत्रपात स्पेन से हुआ और स्पेन की समृद्धि आरम्भ हुई मैक्सिको पर आक्रमण से। अपने ही मानव भाइयों का गला काटकर ईसाईधर्म ऐश्वर्य अर्जित करता हैं। ऐसा कीमत पर हिन्दू समृद्ध होना नहीं चाहता।' ...हर्षध्वनि समाप्त हो जाने पर उन्होंने हिन्दू धर्म सम्बन्धी अपने निबन्ध का पाठ किया।" यदि यह युक्तिपूर्ण एवं तथ्यबहुल निबन्ध और भी पहले श्रोताओं के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता तो ईसाई धर्माचार्यों की बेकार की शेखी अंकुर रूप में ही नष्ट हो जाती, क्योंकि उनकी सारी आलोचना अज्ञानता तथा विद्वेष से जन्मी थी। मिशनरी लोग चाहे जिनकी भी निर्लज्जतापूर्वक स्वामीजी तथा उनके विचारों को नीचा दिखाने के लिए कटिबद्ध हुए हो, पर अमेरिकी जनता क्रमशः उनकी ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो रही थी। यहाँ तक कि उस दिन के क्षुद्रतापूर्ण आक्रमण के बाद भी उस व्याख्यान के समय श्रोताओं की संख्या सर्वाधिक हुई थी। 'शिकागो इन्टरओशन' के मतानुसार, "महासभा आरम्भ होने के एक घण्टा पूर्व ही लोगों की भयानक भीड़— जिसमें महिलाओं की संख्या ही अधिक थी—'कोलम्बस हॉल' के प्रवेशद्वारों पर एकत्र होती जा

रही थी, क्योंकि पहले से ही घोषणा कर दी गयी थी कि आज स्वामी विवेकानन्द का व्याख्यान होनेवाला है। सर्वत्र महिलाएँ ही महिलाएँ, विराट् गैलरी महिलाओं से भर गयी थी।''

इस निबन्ध में स्वामीजी ने बड़े संक्षेप में हिन्दुओं के दर्शन, मनोविज्ञान, सामान्य मत एवं विश्वास, आचार-विचार आदि का परिचय दिया था। इतने सीमित समय के दौरान इस विशाल धर्म के इतने सारे मौलिक तथ्यों को ऐसी सहजबोध भाषा में एक विधर्मी व विदेशी जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना केवल उन्हीं के लिए सम्भव था। क्योंकि अनेक शाखाओं में बँटे और विदेशियों की दृष्टि में किसी भी प्रकार के शृंखला से रहित हिन्दू चिन्तनराशि को एक अखण्ड सुसम्बद्ध दर्शनमूलक धर्म के रूप में ऐसे स्पष्ट तथा सुदृढ़ भाषा में इसके पूर्व कभी किसी ने विधर्मियों के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया था। महासभा के मंच पर स्वामी विवेकानन्द एकमात्र भारतवासी नहीं थे, तथापि समग्र हिन्दू धर्म के प्रवक्ता एकमात्र वे ही थे। अन्य प्रतिनिधि अपने-अपने सम्प्रदाय-विशेष के बारे में बोले थे, परन्तु स्वामीजी का विषय था सम्पूर्ण सनातन धर्म के सार्वभौमिक तत्त्व। उन्होंने मानवात्मा और उसकी नियति के बारे में हिन्दू मत व्यक्त किया, वेदान्त-दर्शन की मूल बातें खोलकर कहीं और दिखाया कि उसी की नीव पर सभी प्रकार की उपासना-प्रणालियों के बीच समन्वय लाना सम्भव है; क्योंकि वेदान्त के मतानुसार विभिन्न प्रकार की साधनाएँ एक ही सत्य की उपलब्धि के अलग अलग मार्ग हैं। उन्होंने कहा कि हिन्दुओं के मतानुसार जीवात्मा नित्य पापमुक्त है, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है; तथापि वह एक ओर

असीम होकर भी माया के प्रभाव से अनेक, विविध तथा बद्ध प्रतिभात होती है। अनेक जन्मों की साधना के फलस्वरूप भगवद्दर्शन अथवा एकत्व की अनुभूति हुआ करती है। आत्मा सृष्ट वस्तु नहीं है। मृत्यु का अर्थ देह का परिवर्तन मात्र है। वर्तमान जीवन अतीत के कर्मफल से और भविष्य का जीवन वर्तमान के कर्मफल से होता है। ईश्वर से साक्षात्कार पाने के लिए क्षुद्र 'मैं' और 'मेरा' का भाव त्याग करना होगा; परन्तु इससे जीवात्मा का विनाश नहीं अपितु परिपूर्णता में विकास होता है। स्वार्थपरता के मूल—क्षुद्र अहंता के भाव को दूर करके जीव अपने पूर्ण स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। विश्वप्राण के साथ एकीभूत होकर ही कोई मृत्यु से परे जा सकता है; आनन्द के साथ एकात्मता का बोध करके ही मनुष्य दु:खों से छुटकारा पा सकता है; चैतन्य के साथ अभिन्न होकर ही मनुष्य भ्रम को दूर कर सकता है; और यही विज्ञानसम्मत सिद्धान्त है। विज्ञान बताता है कि ससीम व्यक्तित्व एक भ्रान्तिप्रसूत मिथ्या धारणा है; जैसे मानव देह एक अखण्ड जड़राशि के बीच स्थित सदा परिवर्तनशील एक जड़-पिण्ड मात्र है, वैसे ही मानवात्मा रूपी दूसरा अंश भी एक अखण्ड सत्ता होने को बाध्य है। स्वामीजी के व्याख्यान का मूल सुर था यही एकत्व; और उन्होंने यह बताना चाहा कि भगवत्सत्ता के साथ अभिन्नता की अनुभूति का अर्थ है एकत्व की अनुभूति और इसके फलस्वरूप सर्वत्र ही एक भगवत्सत्ता का बोध होता रहता है।

इसी भाव से अनुप्राणित होकर उन्होंने प्राचीन भारतीय सत्यद्रष्टा ऋषियों के समान श्रोताओं को 'अमृत के पुत्रो' कहकर सम्बोधित करते हुए महापुरुषोचित स्वर तथा

भाषा में कहा—"अमृत के पुत्रो—कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है यह! बन्धुओ! मैं इसी मधुर नाम से तुम लोगों को सम्बोधित करना चाहता हूँ। तुम अमृत के अधिकारी हो। हिन्दू तुम्हें पापी कहने से इन्कार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, चिर आनन्द के भागी हो—पवित्र और पूर्ण हो। मृत्युलोक के देवता हो तुम! और पापी? मनुष्य को पापी कहना ही महापाप है। मानव के यथार्थ स्वरूप पर यह घोर लांछन है। उठो सिंहो! आओ और इस मिथ्या भ्रम भो झटककर दूर कर दो कि तुम भेंड़ हो। तुम हो अमर आत्मा, मुक्त आत्मा – नित्य आनन्दमय। तुम जड़ नहीं हो, शरीर नहीं हो; जड़ तो तुम्हारा दास है, तुम जड़ के दास नहीं। वेद जो ऐसी घोषणा करते हैं—'वे' कतिपय नियमों का भयावह सघात नहीं है, और न हीं कार्य-कारण का अनन्त कारागार है; अपितु इन समस्त नियमों के परे प्रत्येक परमाणु व शक्ति में ओतप्रोत हैं। वे एक विराट् पुरुष, 'जिसके आदेश से वायु प्रवाहित होती है, अग्नि दहकती है, मेघ बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर ताण्डव करती है।' उनका स्वरूप क्या है? वे सर्वव्यापी, शुद्ध, निराकार और सर्वशक्तिमान हैं—सबके ऊपर उनकी दया है। ...ईश्वर की कृपा होने पर ही यह बन्धन टूट सकता है और पवित्र-हृदय लोगों पर ही उनकी कृपा होती है।"

यह तो हुई दर्शनशास्त्र की बातें। अब इनके साथ हिन्दुओं के बहु देवी-देवताओं की उपासना का सामजस्य किस प्रकार हो सकता है? स्वामीजी ने उन्हें समझाया कि मानव मन की संरचना के अनुसार भगवत्सान्निध्य पाने में सहायक के रूप में निम्न स्तर की धार्मिक धारणाओं—पूजा,

प्रार्थना, आचार, अनुष्ठान आदि की भी उपयोगिता है; मन को एकाग्र करने के लिए मूर्तिपूजा की भी आवश्यकता है। जहाँ मन को आत्मा में लय करने के उद्देश्य से ईश्वर के प्रतीक के रूप में मूर्ति की सहायता ली जाती है, वहाँ पौत्तलिकता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। उन्होंने कहा, "ज्ञानी हिन्दू आत्मा और ईश्वर के बारे में सर्वोत्कृष्ट प्रमाण के रूप में कहते हैं, 'मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।' पूर्णत्व प्राप्ति की यही एकमात्र शर्त है। किन्हीं मतवादों या सिद्धान्तों में विश्वास करने के प्रयास में हिन्दू धर्म निहित नहीं है, अपरोक्षानुभूति ही उसका मूलमंत्र है; वह केवल विश्वास कर लेना नहीं, अपितु होना और बनना है।" प्रतिमा या आचार-अनुष्ठान आदि उच्चतर आध्यात्मिक उपलब्धियों में सहायक मात्र हैं– साधना की प्रारम्भिक अवस्था में अनेक लोगों के लिए वे अत्यावश्यक हैं तथापि सबके लिए वे अनिवार्य नहीं हैं। धर्मों की विविधता के बीच निहित एकता के बारे में उन्होंने कहा—"अनेकता में एकता ही प्रकृति का विधान है और हिन्दू इसे समझ सके हैं। अन्य धर्मों में कुछ निश्चित मतवाद विधिबद्ध कर दिए गए हैं और सम्पूर्ण समाज से उन्हें बलपूर्वक मनवाया जाता है। ...हिन्दुओं की दृष्टि में समग्र धर्म-जगत् भिन्न-भिन्न रुचिवाले नर-नारियों की, विभिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से होकर उस एक ही लक्ष्य की ओर अग्रगति मात्र है। प्रत्येक धर्म जड़भावापन्न मनुष्य के भीतर से चैतन्यस्वरूप अर्थात् देवत्व का विकास करता है और वह एक चैतन्यस्वरूप ईश्वर ही समस्त धर्मों का प्रेरक है। ...हिन्दुओं का कहना है कि भिन्न-भिन्न परिवेश तथा विभिन्न स्वभाव के मनुष्यों के लिए उपयोगी होने के निमित्त

एक ही सत्य आपात दृष्टि से ऐसा परस्पर-विरोधी भाव धारण करता है।" इस प्रकार विश्व के समस्त लोगों को - असभ्य से सुसभ्य तक, मूर्तिपूजक से निर्गुण-निराकारवादी तक—सबको एक महासमन्वय में प्रतिष्ठित करने के पश्चात् स्वामीजी ने अन्त में कहा–"एक ऐसा धर्म प्रस्तुत करो और सारे राष्ट्र तुम्हारे अनुयायी बन जाएँगे। अशोक की धर्मसभा केवल बौद्ध धर्म के लिए हुई थी, अकबर की धर्मसभा उस उद्देश्य के अधिक निकट होने के बावजूद घरुआ चर्चा मात्र थी। परन्तु सम्पूर्ण विश्व में यह घोषणा करने का गौरव अमेरिका के लिए ही सुरक्षित था कि 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर का अस्तित्व है।' जो हिन्दुओं के ब्रह्म, पारसियों के अहुर्मज्दा, बौद्धों के बुद्ध, यहूदियों के जिहोवा और ईसाइयों के स्वर्गस्थ पिता है, तुम्हें महान भाव को कार्य रूप में परिणत करने की शक्ति प्रदान करें। पूर्व गगन में नक्षत्र का उदय हुआ। कभी धुँधला और कभी देदीप्यमान होते हुए वह धीरे-धीरे पश्चिम की ओर अग्रसर होता रहा। क्रमशः सम्पूर्ण जगत् की प्रदक्षिणा कर लेने के बाद अब वह पुनः पहले की अपेक्षा सहस्रगुनी ज्योति के साथ पूर्व गगन में सानपो (ब्रह्मपुत्र) नदी के क्षितिज पर उदित हो रहा है। स्वाधीनता की मातृभूति कोलम्बिया, तू धन्य है! तूने कभी अपने पड़ोसियों के रक्त से अपने हाथ नही भिगोये, पड़ोसियों का सर्वस्व लूटकर सहज ही धनी और सम्पन्न होने की चेष्टा नहीं की, अतः सभ्यता में अग्रणी होकर समन्वय की ध्वजा फहराते हुए अग्रसर होने का उत्तरदायित्व तेरा ही है।"

यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में स्वामीजी का यह स्पष्ट भाषण एक

महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। इसमें सर्व धर्मों के एकत्व की वास्तविकता, मनुष्य की दिव्यता और सर्वत्र अद्वैतानुभूति की सत्यता घोषित हुई थी। जब उन्होंने कहा कि विश्व की समस्त भावधाराएँ एक ही सर्वव्यापी आदर्श की विविध अभिव्यक्तियों के रूप में स्वीकृत हो सकती हैं और उसी का अंग मानी जा सकती हैं, तब समझ लेना होगा कि जिस एकांगीपने तथा धर्मान्धता के फलस्वरूप मानव-सभ्यता की प्रगति अवरुद्ध हुई है तथा भगवान के नाम पर खून की नदियाँ बही हैं, अब उसका समूल नाश आसन्न है। स्वामीजी के वक्तव्य में दो बातों पर विशेष बल दिया गया था– परमतसहिष्णुता तथा विभिन्न धर्मों के बीच अधिकाधिक सहयोगिता। इसमें परमतखण्डन का प्रयास नहीं हुआ था, बल्कि केवल भ्रान्त धारणाओं को दूर कर बन्धुत्व की स्थापना के लिए उपयुक्त श्रद्धापूर्व वातावरण की रचना की गयी थी। उनके सार्वभौमिक धर्म की धारणा इतनी नवीन थी– विविधता को स्वीकार कर उसी में एकता के सूत्र को ढूँढ़ने का आग्रह इतना प्रबल था कि उसके सामने साम्प्रदायिकता निष्प्राण हो गयी। फिर उनकी उक्तियाँ बुद्धिप्रसूत न होकर अनुभूतिप्रसूत थीं, इसीलिए उनकी अपनी भी एक शक्ति थी, जिसके फलस्वरूप वे स्वयं ही श्रोताओं के हृदय में प्रविष्ट हो गयी थीं। उनके व्यक्तित्व को आधार बनाकर मानो दैवीशक्ति ने ही विद्युत-झलक के समान महासभा पर अपना प्रभाव विस्तार किया था। अतएव जो लोग पहले से भी धर्म के बारे में संकीर्ण मनोवृत्ति के थे, आज उनके भी हृदय-द्वार खुल जाने से विश्वबन्धुत्व का नवीन आलोक उसमें प्रविष्ट होकर एक नवीन संस्कृति का पूर्वाभास दे रहा था। आज से सभी धर्म

सत्य होंगे, सभी मानव एक होंगे और ब्रह्माण्ड एक ही ब्रह्मसत्ता की बहुमुखी अभिव्यक्ति मानी जाएगी। स्वामीजी का विषय था हिन्दू धर्म, परन्तु उस दिन स्थापना हुई विश्व धर्म तथा विश्व भ्रातृत्व की।

स्वामीजी के गौरवमय जीवन का वह एक अत्यन्त महिमामय क्षण था। उन्होंने मानव प्रकृति की महानता, मानव जाति की एकता तथा ईश्वर के साथ उसकी अभिन्नता का महासभा के माध्यम से प्रचार किया। विभिन्न देशों के अगणित लोगों ने उस दिन उन्हें एक नए सन्देश के वाहक, एक नए धर्मोद्यम तथा धर्मप्रगति के अग्रदूत महापुरुष के रूप में पहचाना। वे तभी एक विश्ववन्द्य व्यक्ति के पद पर प्रतिष्ठित हुए, उनका नाम चिरकाल के लिए मानव के देवत्व की घोषणा करने वाले एक अभिनव सन्देश के साथ एक सूत्र में ग्रथित हो गया। केवल इसी एक व्याख्यान के द्वारा उन्होंने धर्मजगत में एक नवीन विचारधारा को जन्म दिया, ईसाई जगत् भी एक बार पुनः अपने विश्वास की नींव की परीक्षा करने तथा उसे पुनर्व्यवस्थित करने को उद्यत हुआ। परन्तु पाश्चात्य जगत् में हिन्दू धर्म के प्रचार तथा उस धर्म के अद्भुत विचारों से जगत् को परिचित कराने के फलस्वरूप सर्वाधिक लाभान्वित भारतवर्ष ही हुआ। महासभा में स्वामीजी के व्याख्यान के महत्व का वर्णन करते हुए भगिनी निवेदिता की चिन्तनशील लेखनी से जो कुछ निकला था वह अत्यन्त सत्य है—

"धर्मसभा में प्रदत्त स्वामीजी के व्याख्यान के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि जब उन्होंने भाषण देना आरम्भ किया, तो उनका विषय था—हिन्दुओं के धार्मिक विचार', परन्तु जब उनका भाषण समाप्त हुआ, तो अभिनव हिन्दू

धर्म की सृष्टि हो चुकी थी। ...क्योंकि वहाँ पर स्वामी विवेकानन्द के अधरों से जो शब्द उच्चरित हुए उनमें उनकी अपनी अनुभूति की बातें न थीं, और न ही अपने गुरुदेव के बारे में बोलने के लिए उन्होंने उस अवसर का उपयोग किया। इन दोनों विषयों के स्थान पर, भारत की आध्यात्मिक चेतना–उसके सम्पूर्ण अतीत द्वारा निर्धारित सम्पूर्ण देशवासियों का सन्देश ही उनके माध्यम से मुखरित हो उठा था। जब वे पश्चिम के यौवनकाल—मध्याह्न के समय—में व्याख्यान दे रहे थे, तभी प्रशान्त के दूसरी ओर पृथ्वी के तमसाच्छन्न गोलार्ध की छायाओं में निद्रित एक राष्ट्र आशान्मुख हो उस सन्देश की बाट जोह रहा था, जो अरुणोदय के पखों पर आकर उसकी अपनी महिमा व शक्ति के गूढ़ रहस्य को उद्घाटित करने वाला था। उसी मंच पर स्वामीजी के पास अन्य मतों एवं संघों के प्रवक्ता भी उपस्थित थे; परन्तु एक ऐसे धर्म का प्रचार करने का गौरव उन्हीं को प्राप्त हुआ, जिसकी उपलब्धि के लिए, उन्हीं की भाषा में—उनमें से प्रत्येक, 'विभिन्न नर-नारियों की विभिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों से होकर एक ही लक्ष्य तक पहुँचने की यात्रा—अग्रसर होने का प्रयास मात्र है।' उन्होंने घोषणा की थी कि वे एक ऐसे व्यक्ति के बारे में बोलने को खड़े हुए हैं, जिन्होंने समस्त मतों के बारे में कहा है, वे सभी धागे में मणियों के समान मुझमें पिरोये हुए हैं, ...जहाँ भी देखोगे कि कोई असाधारण शक्ति मनुष्य को उन्नत और पवित्र कर रही है, समझ लेना कि वह मेरी ही अभिव्यक्ति है; ऐसा नहीं कि उनमें से कोई एक या दूसरा–इस या उस विषय में, इस अथवा उस कारण से सत्य है। विवेकानन्द का कहना है कि हिन्दू की दृष्टि में

'मनुष्य भ्रम से सत्य की ओर नहीं जाता, अपितु सत्य से सत्य की ओर अग्रसर होता है– निम्नतर सत्य से उच्चतर सत्य की ओर।' यह सत्य तथा मुक्ति का सिद्धान्त कि 'ईश्वर की उपलब्धि करके मनुष्य को ईश्वर ही हो जाना होगा'; धर्म तभी हम लोगों में पूर्णता को प्राप्त होता है, जब वह हमें 'उन' तक ले जाता है, जो इस मृत्युमय जगत् में एकमात्र जीवन हैं, जो नित्य परिवर्तनशील विश्व के चिरन्तन आधार हैं, जो अद्वैत आत्मा हैं और सभी जीवात्माएँ जिनकी भ्रान्त अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। ये दो उपदेश – दो परम एवं विशिष्ट सत्यों के रूप में स्वीकृत हो सकते हैं। मानव इतिहास के सुदीर्घ एवं जटिलतम अनुभूतियों द्वारा प्रमाणित यह सत्य भारतवर्ष ने स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से आज के पाश्चात्य जगत् के सम्मुख प्रस्तुत किया।

"स्वयं भारत के लिए यह छोटा-सा भाषण स्वाधिकार-स्थापना की एक संक्षिप्त सनद है। वक्ता ने हिन्दू धर्म को पूर्णतया वेदों पर प्रतिष्ठित किया, परन्तु 'वेद' शब्द का उच्चारण करते ही वे उसके बारे में हमारी धारणा का आध्यात्मीकरण कर देते हैं। उनकी दृष्टि में—जो कुछ सत्य है, वही 'वेद' है। वे कहते हैं, 'वेद का अर्थ कोई पुस्तक नही है, उसका अर्थ है– विभिन्न कालों में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक सत्यों का संचित कोष।' प्रसगानुसार उन्होंने सनातन धर्म के बारे में भी अपनी धारणा व्यक्त की है– 'वेदान्त दर्शन की अत्युच्च आध्यात्मिक उडानों से लेकर– आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिमकी प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होते हैं, मूर्तिपूजा के निम्नस्तरीय विचारों व तदानुषगिक विविध पौराणिक दन्तकथाओं तक,

और बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद तक—इनमें से प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है।' उनकी दृष्टि में भारतवासियों का कोई भी मत, सम्प्रदाय या सच्ची धर्मानुभूति—चाहे वह किसी को कितनी भी धूमिल क्यों न प्रतीत हो—ऐसी नहीं है जिसे यथार्थ रूप से हिन्दू धर्म की बाहुओं से अलग किया जा सके। उनके मतानुसार इष्टदेवता विषयक सिद्धान्त ही भारत के इस मूल धर्मभाव का वैशिष्ट्य है। हर व्यक्ति को अपना पथ चुनने और अपने ढंग से ईश्वर को खोजने का अधिकार है। ...परन्तु सबका यह समावेश और प्रत्येक की यह स्वाधीनता हिन्दू धर्म की ऐसी महिमा की द्योतक न बन पाती, यदि उसके शास्त्रों से वह मधुरतम आश्वासन की वाणी ध्वनित न होती, 'हे अमृत पुत्रो! सुनो। दिव्य धाम के निवासियो! तुम भी सुनो। मैंने उन महान पुरातन पुरुष को देख लिया है, जो समस्त अन्धकार और अज्ञान के परे हैं। तुम भी उन्हें जानकर मृत्यु पर विजय पा सकोगे।' यही वह सन्देश है जिसके लिए बाकी सब कुछ है और चिरकाल से चला आ रहा है। यही वह चरम अनुभूति है, जिसमें अन्य सारी अनुभूतियाँ विलीन हो सकती हैं।"

अगले दिन २० सितम्बर को उन्होंने महासभा को समझा दिया कि "भारत का प्रधान अभाव धर्म नहीं है।" उन्होंने कहा, "भारत के कोटि कोटि क्षुधार्त नर-नारी शुष्क कण्ठ से रोटी के लिए चिल्ला रहे हैं; वे रोटी माँग रहे हैं, और हम उन्हें देते हैं पत्थर! भूखे लोगों को धर्म के उपदेश देना या दर्शनशास्त्र सिखाना उनका अपमान करना है। ...मैं अपने निर्धन देशवासियों के लिए तुम लोगों से सहायता माँगने आया था; परन्तु अब समझ रहा हूँ कि ईसाइयों के

देश में, ईसाइयों के पास से गैर-ईसाइयों के लिए सहायता प्राप्त करना कितना कठिन है!" ये बातें सुनकर भले ही और कुछ न हुआ हो, पर महासभा समझ गयी कि विवेकानन्द केवल सुवक्ता संन्यासी ही नहीं, हृदयवान देशभक्त भी हैं। उस व्याख्यान के अन्त में उन्होंने पुनर्जन्मवाद पर भी कुछ बातें कहीं।

२६ सितंबर को उन्होंने महासभा में 'बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म का ही परिपूरक है'–इस विषय पर व्याख्यान दिया। इसमें स्वामीजी के विचारधारा का एक मौलिक रूप प्रस्फुटित हुआ है, जिसके आलोक में बुद्ध के आविर्भाव के बाद का भारतीय धर्मेतिहास सहजबोध हो उठा है। इसमें उन्होंने दिखाया कि हिन्दू धर्म के दो प्रधान भाग है– कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। बुद्ध ने समाज में उसके आध्यात्मिक पक्ष का ही प्रचार किया और समाज में उसकी अपेक्षित प्रतिक्रिया की व्याख्या की। वे ही प्रचारमूलक धर्म के प्रथम पथनिर्माता और धर्मान्तरण-प्रथा के प्रवर्तक थे। तो भी "शाक्यमुनि पूर्ण करने आए थे, ध्वंश करने नहीं; वे हिन्दू धर्म की स्वाभाविक परिणति, युक्तिसंगत सिद्धान्त और न्यायसम्मत विकास थे। ...भारत उन्हें ईश्वरावतार के रूप में पूजता है; ...परन्तु बुद्धदेव के बारे में हमारी धारणा यह है कि उनके शिष्यों ने उन्हें ठीक-ठीक नहीं समझा। ...शाक्यमुनि कुछ नया प्रचार करने नहीं आए थे, ईसा के समान ही वे भी पूर्ण करने आए थे, ध्वंश करने नहीं। बुद्धदेव के शिष्य उनके उपदेशों का मर्म समझ नहीं सकें।" अन्त में वे बोले, "हिन्दू धर्म बौद्धधर्म के बिना नहीं रह सकता और न बौद्ध धर्म हिन्दू धर्म के बिना। ब्राह्मणों के दर्शनशास्त्र व मस्तिष्क के बिना बौद्ध ठहर नहीं सकते और

न ब्राह्मण ही बौद्धों के विशाल हृदय के बिना टिक सकते हैं। बौद्ध और ब्राह्मण के बीच यह पार्थक्य ही भारतवर्ष के पतन का कारण है।"

महासभा के अन्तिम दिन २७ सितम्बर को स्वामीजी अपने विदाई भाषण के अन्त में बोले—"ईसाई को हिन्दू या बौद्ध नहीं होना है और न ही हिन्दू या बौद्ध को ईसाई बनना है; पर प्रत्येक को चाहिए कि वह अन्य धर्मों के सारभाग को आत्मसात करके पुष्ट हो और अपने वैशिष्ट्य को बनाए रखकर अपनी प्रकृति के अनुसार विकसित हो। यदि इस महासभा ने जगत् के समक्ष कुछ प्रदर्शित किया है तो वह यह है-इसने यह सिद्ध कर दिया है कि साधुता, पवित्रता और दयाशीलता किसी सम्प्रदाय-विशेष की बपौती नहीं है तथा प्रत्येक धर्म में ही अति उन्नत चरित्र के नर-नारियों का जन्म हुआ है। इन समस्त प्रत्यक्ष प्रमाणों के बावजूद यदि कोई ऐसा स्वप्न देखे कि केवल उसी का धर्म टिका रहेगा और अन्य सारे धर्म लुप्त हो जाएँगे, तो वह वस्तुतः दया का पात्र है; मैं उसके लिए हृदय से दुःखी हूँ और उसे स्पष्ट रूप से बताए देता हूँ कि समस्त प्रतिरोधों के बावजूद शीघ्र ही प्रत्येक धर्म की पताका पर लिखा होगा—'संघर्ष नहीं-सहायता; विनाश नहीं-ग्रहण; मतभेद और कलह नहीं-समन्वय और शान्ति'।"

महासभा और उसकी विज्ञान शाखा के बाहर स्वामीजी ने जो व्याख्यान दिए, उनमें से 'प्राच्य नारी' विषय पर एक व्याख्यान का संक्षिप्त विवरण २३ सितम्बर के 'शिकागो डेली इन्टरओशन' पत्र में और 'ईश्वर-प्रेम' सम्बन्धी एक और व्याख्यान का विवरण २५ सितम्बर के 'शिकागो हेराल्ड' पत्र में प्रकाशित हुआ था। प्रथम

व्याख्यान में उन्होंने कहा कि हिन्दू नारियाँ बडी धार्मिक तथा आध्यात्मिक सम्पदा से विभूषित होती हैं। सतीत्व को भारत में सर्वोच्च स्थान दिया जाता है। भारतीय नारी के इस पवित्रता के साथ यदि बौद्धिक उत्कर्ष का भी योग किया जा सके, तो विश्व की आदर्श नारी-चरित्र का गठन हो जाएगा। ईश्वर-प्रेम सम्बन्धी अपने व्याख्यान में उन्होंने कहा—सभी लोग विभिन्न नामों से ईश्वर का चिन्तन आदि किया करते हैं और भगवप्रेम ही सम्पूर्ण विश्व के एकत्व का मूल सूत्र है। भगवान केवल कुछ विशेष लोगों के साथ नही, बल्कि अपने प्रत्येक सन्तान के साथ वार्तालाप आदि करते हैं। हम सभी आपस में भाई-बहन हैं, क्योंकि हम एक ही ईश्वर की सन्तान है।

महासभा समाप्त हुई, विज्ञान शाखा की कार्यवाही भी पूरी हो गयी। इन कुछ दिनों के दौरान महासभा के श्रोताओं तथा अन्य सभा-समितियों के सदस्यों ने किस प्रकार स्वामी विवेकानन्द को स्वीकार किया और अमेरिकी समाचार पत्रों में उनकी विजय का समाचार किस ढग से प्रचारित हुआ इसका बहुत-कुछ आभास हम पा चुके। तो भी इस विषय में और भी दो-चार बातें कहना आवश्यक है।

महासभा के पहले दिन ही अज्ञात भिक्षान्नजीवी संन्यासी विश्वबन्द्य व्यक्ति में परिणत हुए। भारत के गिरि-कन्दराओं तथा वनों में विचरण करनेवाले निःसग विवेकानन्द एक नये सन्देश के वाहक, एक अभिनव सस्कृति के अग्रदूत हुए। महासभा में अर्जित सफलता केवल उन्ही तक सीमित न रहकर सभी दिशाओं में फैल गयी और विवेकानन्द का नाम सर्वत्र प्रतिध्वनित हो उठा। उनके पूरे आकार के तिरंगे चित्र शिकागो के राजमार्गों पर दिखने

लगे, जिनके नीचे लिखा रहता था—'भारत के हिन्दू संन्यासी विवेकानन्द'। राह चलते लोग उसे देख ठिठककर खड़े हो जाते और सिर झुकाकर श्रद्धा व्यक्त करते। पत्र-पत्रिकाएँ उनकी प्रशंसा में मुखर थीं। नगर के श्रेष्ठतम संवादपत्रों में उन्हें ऋषि और भगवत्प्रेरित महापुरुष के रूप में अभिनन्दित किया गया। हम पहले ही स्वामीजी के पत्रों में से तथा अन्यत्र 'दि न्यूयार्क क्रिटिक', 'हेराल्ड' तथा 'बोस्टन इवनिंग ट्रान्सक्रिप्ट' के मतों का उल्लेख कर चुके हैं। महासभा की विज्ञान शाखा के सभापति श्री मरविन-मेरी स्नेल ने लिखा था—

"महासभा तथा अमेरिकी जनता पर हिन्दू धर्म ने जैसा प्रभाव डाला, वैसा और कोई भी सम्प्रदाय नहीं कर सका।.. और हिन्दुओं के सर्वाधिक महत्वपूर्ण और श्रेष्ठतम प्रवक्ता थे स्वामी विवेकानन्द; फिर वे ही असन्दिग्ध रूप से महासभा के सर्वाधिक लोकप्रिय तथा प्रभावशाली व्यक्ति भी थे। महासभा के कक्ष में तथा मेरे सभापतित्व में परिचालित उसकी विज्ञान शाखा के अधिवेशनों में वे प्रायः व्याख्यान देते थे और प्रति बार किसी भी ईसाई या गैर-ईसाई वक्ता की अपेक्षा उनका अधिक उत्साह के साथ स्वागत होता था। वे जहाँ भी जाते, जनता उन्हें घेर लेती और उनका प्रत्येक शब्द ध्यानपूर्वक सुनती। कट्टर से कट्टर ईसाई भी उनके बारे में कहते कि वे सचमुच ही मनुष्यों में महाराजा हैं।"

विश्वमेला-कांग्रेस के सामान्य समिति के अध्यक्ष जे. एच बैरोज ने कहा था, "स्वामी विवेकानन्द ने अपने श्रोताओं पर अद्भुत प्रभाव विस्तार किया।"

काफी काल बाद महासभा में स्वामीजी की उपस्थिति

के बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए श्रीमती एनी बेसेण्ट ने लिखा था—"शिकागो के धूम्रमलिन क्षितिज पर भारतीय सूर्य के समान दीप्तिमान, सिंह के समान उन्नत सिर, अन्तर्भेदी दृष्टि, चंचल ओष्ठ, मनोहर तथा द्रुत चाल, गैरिक वस्त्रों में विभूषित एक महिमामय मूर्ति—ऐसी हुई स्वामी विवेकानन्द के बारे में मेरी धारणा, जब मैं महासभा के प्रतिनिधियों के लिए निर्धारित कमरे में पहली बार उनसे मिली। वे एक संन्यासी के रूप में परिचित थे, जो कि उचित ही था, परन्तु वे थे एक योद्धा संन्यासी; और पहली भेंट के समय वे मुझे संन्यासी की अपेक्षा योद्धा ही अधिक प्रतीत हुए थे। क्योंकि जब वे प्राचीनतम जीवित धर्म के प्रतिनिधि के रूप में मंच पर से उतरकर आते, आयु में सबसे कम होकर भी उत्सुक दर्शकों से घिरे हुए, वे इस बात को मानने के लिए कतई राजी न थे कि जिस प्राचीन धर्म के वे प्रवक्ता थे, वह किसी भी दृष्टि से वहाँ उपस्थित सर्वश्रेष्ठ धर्म से बिन्दुमात्र भी न्यून है; और तब उनके अंग-अंग से देश तथा जाति का गर्व फूट पड़ता-सा प्रतीत होता था। चचल, तेज और उद्धत पश्चिम में अपने इस सन्देशवाहक सन्तान को भेजकर भारत को लज्जित होने का कोई कारण नही। वे भारतवर्ष का सन्देश लेकर आये थे और भारत के नाम पर ही उन्होंने उसका प्रचार किया। जिस महिमामण्डित देश से प्रतिनिधि के रूप में वे आये थे, उसकी मर्यादा का उन्हें सदैव भान रहता था। वे उद्यमशील, शक्तिमान और उद्देश्य में अटल थे; मनुष्यों के बीच एक मनुष्य के रूप में वे अपना सिर ऊँचा करके खड़े होते थे और सर्वदा अपने मतों का समर्थन करने की उनमें क्षमता थी।

"मच पर उनका एक अन्य ही रूप दीख पडता। वहाँ

भी अपनी मर्यादा, गुणावली और शक्ति के बारे में एक जन्मजात विश्वास उनमें झलकता रहता; परन्तु जो आध्यात्मिक सन्देश लेकर वे आये थे, उसके अनुपम सौन्दर्य के सामने–भारत के हृदयस्वरूप– भारत के प्राणस्वरूप– प्राच्य के उस अतुलनीय सन्देश, उस अत्यद्भुत आत्मविद्या के गाम्भीर्य के सामने वह फीका पड़ जाता था। विशाल जनसमुदाय भावविभोर होकर उनके मुख से उच्चरित शब्दों के लिए कान खड़े रखता था कि कहीं वह एक भी शब्द से वंचित न रह जाए, एक भी उच्चारण का लहजा छूट न रह जाय। सभागार से निकलते हुए एक श्रोता कह उठा, 'ऐसे व्यक्ति को हम लोग विधर्मी कहते हैं! और उसके देश में मिशनरी भेजते हैं! बल्कि उचित तो यह होगा कि वे लोग ही हमारे बीच मिशनरी भेजें'।"

अमेरिका की एक विख्यात कवियित्री हैरियट मनरो भी महासभा में उपस्थित थीं और बाद में उन्होंने अपनी आत्मकथा में स्वामीजी के बारे में लिखा—"इन शेषोक्त व्यक्ति महिमामय स्वामी विवेकानन्द ने ही धर्मसभा और पूरे नगर को जीत लिया था। कुछ अन्य विदेशी—ग्रीक, रूसी, अरमेनियन, कलकत्ता के मजूमदार, लंका के धर्मपाल आदि अच्छा बोले—जिनमें से किसी किसी को दुभाषिये की सहायता लेनी पड़ती थी। परन्तु उन गैरिक-वस्त्रधारी सुन्दर सन्यासी ने हमें शुद्ध अंग्रेजी में श्रेष्ठतम वस्तु प्रदान की। उनका प्रबल और आकर्षक व्यक्तित्व, काँसे की घण्टा-ध्वनि के समान उनका गम्भीर और मधुर कण्ठस्वर, उनके संयत भावोच्छ्वास की प्रखरता और पाश्चात्य जगत् के समक्ष पहली बार उच्चारित उनके सन्देश का सौन्दर्य—इन सबने मिलकर हमारे लिए चरम अनुभूति के एक विरल अवसर

की सृष्टि की थी। मानवीय वाग्विदग्धता की यह पराकाष्ठा थी।"

स्वामीजी के आगमन के पूर्व से ही गीता और उपनिषदों की भावराशि पाश्चात्य जगत् के कुछ विशेष विद्वत्-समाजों में प्रविष्ट होकर एन नवीन धर्मान्दोलन का पथ निर्माण कर रही थी। स्वामीजी ने आकर उनके तथा अन्य लोगों के प्राणों में उत्साहाग्नि प्रज्जवलित की। वे लोग नये उद्यम के साथ अपने मत के प्रचार तथा उसके परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि में लग गये। इमर्सन-पन्थी, कांग्रिगेशन-मण्डली ट्रांसेंडेंटलिस्ट, नव-ईसाई, थियॉसफिस्ट, युनिवर्सलिस्ट, आदि कितने ही सम्प्रदाय जाने या अनजाने उनके सन्देश से प्रभावित हुए और क्रमशः उनकी कीर्ति सुनकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे प्राचीनों के उद्‌बोधक और नवप्राणसंचारक आचार्य हैं। परन्तु इतना सम्मान पाकर भी स्वामीजी पहले के ही समान एक सरल निरहंकारी संन्यासी बने रहे। पश्चिम के मान एवं ऐश्वर्य ने उनके मन में बिन्दु मात्र भी विकार उत्पन्न नहीं किया।

स्वामीजी जानते थे कि ईश्वर की इच्छा तथा गुरु की कृपा से ही वे विश्वजयी हुए हैं, अतः वे निर्भीक चित्त से अपना सन्देश सुनाते रहे। महासभा में एक दिन व्याख्यान देते समय अचानक ही ठहरकर उन्होंने कहा कि श्रोताओं में से जिन लोगों ने हिन्दुओं के धर्मशास्त्र पढ़े हैं तथा उस धर्म का साक्षात् परिचय पाया है, वे लोग हाथ उठायें। यद्यपि उस सभागार में अनेक विश्वविख्यात् धर्मवेत्ता उपस्थित थे, पर केवल तीन-चार ही हाथ ऊपर उठे। तब स्वामीजी व्यंगपूर्ण दृष्टि से सभा की ओर देखते हुए दृढतापूर्वक खडे हो गये और बोले, "और इस पर भी आपमें इतना दुस्साहस

है कि आप हमारी आलोचना करने को अग्रसर होते हैं।" ये कुछ बातें उन्होंने ऐसे स्वर में कहीं कि श्रोताओं के मन में वे तीर के समान बिंध गयीं। उनमें ऐसा ही साहस था। ईसाई मिशनरियों पर उनके शब्दों द्वारा तीव्र आघात करने के दृष्टान्त हम पहले ही दे चुके हैं। अतः हम सहज की समझ सकते हैं कि एक तरफ यद्यपि उन्हें प्रशंसा मिली थी, पर दूसरी तरफ उन्होंने अनेक शत्रु भी बना लिये थे।

ईसाई मिशनरी और ब्राह्मसमाज के प्रतिनिधि प्रतापचन्द्र मजूमदार उनके प्रमुख शत्रु बन गये। बाद में बोस्टन की रमाबाई मण्डली भी इन लोगों के साथ जुड़ गयी। स्वामीजी की पत्रावली पढ़कर ऐसा लगता है कि मजूमदार महाशय ने स्वामीजी की सफलता पर ईर्ष्यालु होकर उनके प्रति विरुद्धाचरण किया। इसे अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं। प्राचीन अंग्रेजी जीवनी में लिखा है कि ईर्ष्यापरायण लोगों में " एक थे उन्हीं के स्वदेशवासी और वे एक प्रगतिशील धार्मिक सम्प्रदाय के नेता थे। उन्होंने देखा कि एक नवीन प्रतिद्वन्द्वी उनका नाम-यश ग्रहण करता जा रहा है"। हिन्दू सन्यासी का परिचय पूछे जाने पर उन्होंने महासभा के संचालकों के कान में कहा, "यह भारत के एक ऐसे घुमक्कड़ सम्प्रदाय का हैं, जिनका समाज में कोई मान या प्रभाव नहीं है; वस्तुतः यह एक ढोंगी है।" परन्तु सचालकों का मन इन बातों से विचलित नहीं हुआ। स्वामीजी के प्रबल व्यक्तित्व के आधार पर ही उन लोगों ने उनका मूल्यांकन किया।

ईर्ष्या तो थी ही, उसके साथ-साथ विचारों का संघर्ष भी था। ९ सिम्बर १८९३ ई. के 'एडवोकेड' पत्रिका में मजूमदार से सम्बन्धित निम्नलिखित बातें प्रकाशित हुई

थीं– "ब्राह्मसमाज के प्रमुख प्रतिनिधि ने सतर्कतापूर्वक बताया कि उन्होंने अपना धर्ममत मिशनरियों से नहीं लिया है, अपितु वह हिन्दू धर्म का ही एक रूपान्तरण है। उसमें आधुनिक हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्मों में जो कुछ सत्य है, उसी को आधार रूप में ग्रहण करने पर भी, ईसा मसीह को ईश्वर का पुत्र तथा जगत् के उद्धारकर्ता के रूप में ग्रहण करने में ही उसकी चरम परिणति है।" कहना न होगा कि स्वामीजी ईसा मसीह के परम प्रशंसक होकर भी, हिन्दू धर्म को हीन करके अन्य धर्मों को उच्चतर स्थान देने को प्रस्तुत न थे। ईसाइयों के सुर में सुर मिलाकर ब्राह्मगण कहा करते थे कि हिन्दू मूर्तिपूजक हैं और स्वामीजी को यह बिल्कुल भी मान्य न था। पाश्चात्यों की नकल पर ब्राह्म लोग भी हिन्दुओं की अनेक सामाजिक प्रथाओं तथा आचार-अनुष्ठानों की निन्दा किया करते थे और सुधार की शीघ्र आवश्यकता का अनुभव करते हुए तदनुरूप पथ का अवलम्बन करते थे। सुधार की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए भी प्रत्येक प्रथा में निहित आदर्श की ओर ध्यान आकर्षण करते हुए स्वामीजी कहते, "समाज यदि आदर्शभ्रष्ट होकर गलत रास्ते पर चले तो गाली-गलौज के द्वारा उसका सुधार नहीं होता, वरन् इसके लिए आदर्श का पुनरुद्धार आवश्यक है।" सतीदाह आदि प्रथाओं का समर्थन न करते हुए भी वे उनमें निहित आदर्श की ओर दृष्टि रखते थे और साथ ही पाश्चात्य देशों में प्रचलित उसी प्रकार के अत्याचार और अनाचार की ओर इंगित कर विपक्षी को परास्त कर देते थे। वस्तुतः वे अनुचित आलोचना से समाज की प्राणपण से रक्षा करते थे। ऐसी कार्यधारा ब्राह्मों को स्वीकार नहीं थी। वे सोचते कि

ब्राह्मसमाज प्रगतिशील आन्दोलन है और विवेकानन्द अपने व्यर्थ के तर्कजाल से पुरातनपंथियों का समर्थन करते हैं, अतः प्रगति में बाधक हैं। ऐसी हालत में विद्वेष अवश्यं-भावी था।

थियासाफिस्ट भी उन पर रुष्ट थे; क्योंकि थियासाफी का 'महात्मावाद' इत्यादि उन्हें बड़ा विचित्र लगता था और अलौकिक कारनामों को वे ज्यादा महत्व नहीं देते थे; उनकी दृष्टि में यह सब बाजीगरी की ही श्रेणी का था, जिनका आध्यात्मिक मूल्य प्रायः शून्य के बराबर था। सिद्धियों को वे धर्म का सा सम्मान नहीं देते थे।

फिर सभी विरोधी सम्प्रदाय पाश्चात्य जगत् के समक्ष हिन्दू धर्म व समाज का अतिरंजित कुत्सित रूप प्रस्तुत कर उसके उद्धारार्थ अर्थ-संग्रह किया करते थे, विवेकानन्द के वहाँ पहुँचने तथा उनके व्याख्यानों के फलस्वरूप उन विकृत चित्रों की वास्तविकता उजागर हो जाने से सबने मिलकर एक स्वर में विवेकानन्द के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। मजूमदार भी उन्हीं में से एक थे। धर्ममहासभा के दिनों में मजूमदार की कीर्ति के बारे में स्वामीजी की ही एक अपनी उक्ति उद्धृत कर हम इस अध्याय का समापन करेंगे। १९ मार्च १८९४ ई. को स्वामी रामकृष्णानन्द के नाम एक पत्र में उन्होंने लिखा था—

"प्रभु की इच्छा से मजूमदार महाशय के साथ मेरी यहाँ भेंट हुई। पहले तो बड़ी प्रीति थी, परन्तु जब पूरे शिकागो शहर के नर-नारी मेरे पास झुण्ड के झुण्ड आने लगे, तब मजूमदार भैया के मन में आग धधक उठी। मैं तो देख-सुनकर दंग रह गया। बोलो भाई, मैंने क्या तुम्हारे पेट पर लात मारी है? इस देश में तो तुम्हारे लिए यथेष्ठ

अवसर है। परन्तु मेरे जैसा तुम्हारा नहीं हुआ तो इसमें मेरा क्या दोष?... और मजूमदार ने महासभा के पादरियों के समक्ष मेरी खूब निन्दा की, 'यह कोई नहीं, ठग है, ढोंगी है; तुम्हारे देश में कहता है– मैं साधु हूँ।' आदि बातें कहकर उन लोगों के मन में मेरे बारे में गलत धारणा बैठा दी। प्रेसीडेण्ट को ऐसा भड़काया कि अब वे मेरे साथ ठीक से बातें तक नहीं करते। ये लोग पुस्तकों और पत्रकों की सहायता से मुझे यथासम्भव दबाने का प्रयास कर रहे है; परन्तु भाई, गुरुदेव मेरे साथ हैं॥ मजूमदार के कहने से क्या हो सकता है? पूरा अमेरिका मुझ से प्रेम करता है, भक्ति करता है, रुपये देता है और गुरु जैसा मानता है– मजूमदार बेचारा क्या करे? पादरी-फादरी की भी क्या बिसात? और फिर यह विद्वानों का राष्ट्र है। यहाँ पर 'हम विधवाओं का विवाह करते है, मूर्तिपूजा नहीं करते' आदि बातें नहीं चलती, केवल पादरियों के पास चलती है। भाई, ये लोग दर्शन चाहते है, विद्या चाहते है; थोथी गप्पों से काम नहीं चलेगा।

आन्तरिक शान्ति

जो घोर से घोर विपत्ति मनुष्य पर पड सकती है, उन्हें सहते हुए प्राचीन यहूदी महात्मा ने सत्य ही कहा गया था, "माता के गर्भ से मैं नग्न आया और नग्न ही लौट रहा हूँ; प्रभु ने दिया और प्रभु ही ले गये, धन्य है प्रभु का नाम।" इन वचनों में जीवन का रहस्य छिपा है। ऊपरी सतह पर चाहे लहरें उमड आएँ और आँधी के बवडर चलें, परन्तु उसके अन्दर, गहराई में अपरिमित शान्ति, अपरिमित आनन्द और अपरिमित एकाग्रता का स्तर है।

— स्वामी विवेकानन्द

'शिकागो-वक्तृता' के प्रारंभिक हिंदी अनुवाद

स्वामी विदेहात्मानन्द

स्वामी विवेकानंद के सितंबर १८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित ऐतिहासिक धर्म महासभा में भाग लेने की इस वर्ष शताब्दी मनाई जा रही है। इस अवसर पर हम चर्चा करेंगे कि उनकी शिकागो वक्तृता सर्वप्रथम कब और किन लोगों के द्वारा हिंदी में अनुदित तथा प्रकाशित हुई थी।

संभव है तत्कालीन कुछ पत्र-पत्रिकाओं में इनका प्रकाशन हुआ हो, परंतु सौ वर्ष बाद अब उनमें से अधिकाश अनुपलब्ध हैं। एक संकेत मिलता है। १८९५ के सितबर/अक्टूबर में स्वामीजी इग्लैंड से अपने एक गुरुभाई के नाम एक पत्र में लिखते हैं— "यज्ञेश्वर बाबू ने मेरठ में कोई सभा स्थापित की है, वे हम लोगों के साथ मिलकर कार्य करना चाहते हैं। सुना है उनकी कोई पत्रिका भी है; काली को वहाँ भेज दो। यदि हो सके तो वहाँ जाकर वह एक केंद्र स्थापित करे और ऐसा प्रयत्न करे कि हिंदी में उस पत्रिका का प्रकाशन हो।"

फिर १३ नवबर को वे पुनः लंदन से लिखते हैं— "य- बाबू ने एक हिंदी पत्रिका मुझे भेजी है, उसमें अलवर के पंडित रा- ने मेरी शिकागो वक्तृता का अनुवाद किया है। दोनों सज्जनों को मेरी विशेष कृतज्ञता और धन्यवाद अर्पित करना।"

इन पत्रों में उल्लिखित श्री यज्ञेश्वर मुकर्जी ने सनातन धर्म की रक्षा तथा प्रचार हेतु १८८७ ई. में 'निगमागम मंडली' नामक एक सस्था स्थापित की थी। 'निगमागम-चंद्रिका' नामक द्विमासिक इसी का मुखपत्र था। बाद में

संन्यास लेकर वे स्वामी ज्ञानानंद के नाम से विख्यात हुए। १९०१ ई. में उन्होंने अपनी संस्था को रूपातरित कर भारत-धर्म-महामंडल नाम दिया और काशी को अपना मुख्यालय बनाया। हमारा अनुमान है कि उनकी 'निगमागम-चंद्रिका' द्विमासिक के १८९५ ई. के पूर्वार्द्ध के किसी अंक में उन्होंने 'शिकागो वक्तृता' का हिंदी अनुवाद प्रकाशित कराया था और अनुवादक थे पंडित रामचंद्र, जो अलवर राज्य के दीवान थे। यह पत्रिका उन दिनों सभवत: मेरठ से प्रकाशित होती थी। हमें वह प्रति अभी तक देखने को नहीं मिल सकी है।

पुस्तिका के रूप में इसका पहला अनुवाद मध्यप्रदेश के सागर नगर से प्रकाशित हुआ। १८९८ ई. में प्रकाशित ४+४+४६ पृष्ठों की इस पुस्तिका के प्रकाशन हेतु स्वामीजी ने स्वयं अनुमति प्रदान की थी, जैसा कि हम आगे इसकी भूमिका में देखेंगे। इसके भीतरी आवरण पृष्ठ पर रोचक सूचनाएँ हैं, जिसे हम अगले पृष्ठ पर यथावत् मुद्रित कर रहे हैं।

अनुवादकर्ता श्री नारायण बालकृष्ण नाखरे ने २७ सितंबर १८९८ ई. को पुस्तिका की जो भूमिका लिखी, वह उस काल की साहित्यिक भाषा का एक मनोरजक नमूना प्रस्तुत करती है, अत: हमने उसमें संशोधन करने का प्रयास नहीं किया है। ४ पृष्ठों में छपी 'भूमिका' इस प्रकार है—

"प्रिय पाठक,

आपको स्मरण होगा कि ईस्वी सन् १८९३ के सितंबर महीने में अमेरिका के संयुक्त संस्थानांतर्गत चिकागो नगर में "वर्ल्ड्स पार्लमेंट ऑव रिलीजन्स" अर्थात् "जगत् की धर्मप्रतिनिधि सभा" नामकी एक महासभा हुई थीं इस सभा में पृथ्वी भरके संपूर्ण विद्यमान धर्मों के सदृश हमारा यह अत्यंत पुरातन हिंदू धर्म भी

प्रतिनिधि द्वारा उपस्थित था. करुणानिधि भगवान की दया से और हमारे परम प्रिय व परम पूज्य धर्म के सुदैवसे इस समय उसके प्रतिनिधिका कार्य करने के अर्थ उसीके संतान मेंसे एक ऐसा सुपुत्र

आलकाट छापाखाने की धर्म ग्रंथमाला

अंक १.

हिंदू धर्म पर निबंध

जो

श्रीमत्स्वामी विवेकानंदनें
अमेरिका के सुयुक्त संस्थानान्तर्गत चिकागो नगरके

"जगद्धर्म प्रतिनिधि सभा" में पढ़ा था
उसका

नारायण बालकृष्ण नाखरे (आत्रेय) ने
हिंदी अनुवाद
करके

सागर म.प्र. में
अपने आलकाट छापाखाने में छाप के प्रकाशित किया

सन् १८९८ ई.

पहिली बार — कीमत २ आने
१००० प्रति. — डाक महमूल ६ पाई

मिल गया कि जिसने अपने असाधारण बुद्धि, तप, विद्या, वक्तृत्व, विनय और सच्छीलता आदि सद्गुणोंके बलसे हिंदू धर्म पर उसके शत्रुओंने आज तक जितने भर दोषों की राशि लाद रख्खी थी उसको

लीलामात्रसे दूर करके उसकी यथार्थ महती सब जगमें प्रकटकी और उसकी श्रेष्ठता सबोंसे मान्य कराई. जिस दैवशाली जननीने ऐसे नरपुंगव को नौ मास तक अपने गर्भ में धारण किया वह धन्य है.

इस सत्पुरुष का नाम श्रीमत्स्वामी विवेकानंद है. बंगालके आधुनिक साधुशिरोमणि ब्रह्मलोकवासी श्रीमत्परमहंस रामकृष्ण देव के वे सच्छिष्य हैं.

उक्त सभा में हमारे धर्मके सन्मान्य प्रतिनिधिनें अपनी वक्तृतानिपुण रस भरी वाणीसे हिंदू धर्म का जो निरूपण किया, वह इतना सर्वमान्य हुवा कि उसको सुनतेही समस्त श्रोतृ समाज चित्रलिखितसा आश्चर्यचकित और आनंदमें तल्लीन हो गया. जहां देखो वहींसे "साधु" "साधु" शब्द की ध्वनि कर्णगोचर होने लगी. और स्वामीजीका प्रेमसे अभिनंदन होने लगा. अस्तु.

इस अति मनोहर व्याख्यान को पढ़नेसे प्रत्येक हिंदूको समाधान और आनंद होगा, ऐसा सोचकर अंग्रेजी भाषा न जानने वाले स्वधर्मी व स्वदेशी जनोंके हितार्थ इस व्याख्यानका हिंदी अनुवाद करनेकी मेरे मनमें जो इच्छा उपजी उसका फल इस पुस्तकके रूपमें मैं आज आपकी सेवामें परम आदरसे व अत्यंत नम्रता पूर्वक अर्पण करता हूं. आशा है कि आप अपने सहज स्वभावानुसार मुझपर अनुग्रह करके उसका स्वीकार करेंगे.

इस अनुवादकी भाषा जहां तक हो सकी सुगम व सरल करने का यत्न किया है, तौभी मूल व्याख्यान में बहुतेरे पद और वाक्य ऐसे आये हैं कि उनका पूरा पूरा भाव सामान्य जनोंके नित्य व्यवहारमें आने वाले शब्दोंके द्वारा हिंदी भाषामें व्यक्त कर दिखाना, मेरी अल्प मतिके अनुसार केवल असभव है. अतः ऐसे स्थलोंमें उपायहीन होकर कठिन संस्कृत शब्दोंका मुझे कहीं कहीं उपयोग करना पड़ा. कारण अनुवादकी भाषा बालबोध करनेकी अपेक्षा उसमें मूल लेखका पूरा पूरा मर्म लानेका यत्न करना अनुवाद कर्ताका पहिला कर्तव्य है. और किसीभी लेखकी भाषा उसके विषयानुरूप ही रहना योग्य है. अस्तु.

मेरी अल्पज्ञताके कारण इस अनुवाद में रही हुई न्यूनता वा दोष जो सज्जन कृपा करके मुझे बतावेंगे, उनका मैं सदा के लिये ऋणी बना रहूंगा.

स्वामीजीनें हिंदूधर्म प्रतिपादक अपने मनोहर व्याख्यानों का हिंदीमें अनुवाद करनेका अत्यंत उदार भावसें मुझे अधिकार दिया इसके विषयमें मैं उनको अनेकानेक धन्यवाद देता हूं. इत्यलम्

आलकाट मुद्रणयंत्रालय
सागर **अनुवादकर्ता**
२७-९-९८ ईस्वी.

इस पुस्तिका में तीन अध्याय हैं— (१) स्वागत का स्वीकार (२) हिंदू धर्म पर निबंध और (३) अतिम अधिवेशन में भाषण।

शिकागो व्याख्यानमाला का एक अन्य हिंदी अनुवाद रामकृष्ण संघ द्वारा ही कुछ वर्षो के अंतराल पर प्रकाशित हुआ। स्वामीजी ने अपने जीवन के अतिम काल में अपने एक गुरुभाई स्वामी शिवानंद को वाराणसी भेजा था कि वहाँ जाकर वे एक आश्रम की स्थापना करें। ४ जुलाई १९०२ को जब इस आश्रम का प्रतिष्ठापन समारोह मनाया जा रहा था, उसी दिन स्वामीजी ने महासमाधि ली थी। आगामी वर्ष यहीं से स्वामी शिवानद ने ५५ पृष्ठों की इस पुस्तिका का प्रकाशन किया। इसके मुखपृष्ठ पर छपा विवरण हम अगले पृष्ठ पर दे रहे हैं। अदर के पृष्ठ पर लिखा है—

स्वामी विवेकानंदजी का व्याख्यान हिंदू मत
पर जो चिकागो (अमेरिका के एक शहर)
की धर्म्म महासभा में दिया गया था।

प्रारंभ के छह पृष्ठों में दिया हुआ इसका 'मुखबंध' अक्षरश: इस प्रकार है—

स्वामी विवेकानंदजी

का

व्याख्यान हिंदूधर्म्म पर

जो

सिकागो (अमेरिका के एक प्रधान शहर)

की धर्म्मसभा में दिया गया था।

Series No. 1.

रामकृष्ण अद्वैत आश्रम से प्रकाशित

——०——

काशी

भारतजीवन प्रेस में मुद्रित हुआ।

——

१९०३ ई.।

प्रथम बार १०००) मूल्य –)

सुप्रसिद्ध संन्यासी श्रीमान् विवेकानंद स्वामी ने यूरोप व अमेरिका की सभ्य जातियों में आजकल जो सनातन हिंदू-धर्म्म के स्रोत प्रवाहित कर दिए हैं, उन स्रोतों का आश्रय करके अनेक विजातीय नर नारी सत्य धर्म्म की ओर चलने का प्रयत्न कर रहे हैं। जो लोग कुछ काल पूर्व्व हिंदुओं को असभ्य और वर्वर जाति के सन्तान कह कर उनसे घृणा करते थे और कृष्णकाय बङ्गालियों का मिथ्याभाषण की प्रतिमूर्ति ऐसी धारणा बहुकाल से करते थे, अब वे लोग इसके विपरीत समझने लगे हैं। "हिंदू लोग पौत्तलिक और उनके धर्म्म भी पुतली के न्याय निर्जीव और असार हैं" यह धारणा अब बहुत लोगों के मन से चली जा रही है। विवेकानन्द स्वामी के सुमार्जित धीशक्ति, अद्भुत मेधा, अपरिसीम वाक्यकौशल व अभावनीय त्याग

ही इस धारणा के परिवर्तन होने का अद्वितीय कारण है, यह सब लोग एक मत होकर स्वीकार कर रहे हैं। उत्तर अमेरिका के अंतर्गत सिकागो नगर में सन् १८९३ की ११ सितम्बर से २७ सितम्बर पर्य्यन्त सप्तदश दिवस जो धर्म्मसभा का अधिवेशन हुआ, इस अभूतपूर्व अधिवेशन के समय पृथिवी के यावतीय धर्म्मसम्प्रदाय ने निज २ प्रतिनिधि द्वारा अपने अपने मत का वर्णन किया था। इस सभा के कर्तागण प्रायः पृथिवी के समस्त धर्मों के प्रधान और विख्यात पुरुषों को पाथेय भेज कर आमंत्रण करक ले आए थे। समस्त धर्म्मने निज २ प्रतिनिधि भेजे थे, किंतु हाय! सनातन हिन्दूधर्म्म इस सभा में किसीको प्रतिनिधि स्वरूप न भेज सका।

मन्द्राज विभागवासी कतिपय सद्भावशाली शिक्षित युवक विवेकानन्द स्वामी की उदारता, त्याग, निरतिशय पाण्डित्य, असाधारण धीशक्ति वाग्मिता प्रभृति बहुविध गुणों से मुग्ध होकर उक्त सभा में स्वामी जी को भेजने के अर्थ समुत्सुक हुए थे। उन लोगोंने बहु आयास व क्षति स्वीकार करके तदीय पाथेय के अर्थ द्रव्य संचय करके हिन्दूधर्म के प्रतिनिधि स्वरूप स्वामीजी को अमेरिका में भेजा। पृथिवी की समस्त खृष्टधर्म्मावलम्बी सभ्य जातियों ने प्रायः यह दृढ़ निश्चय कर रक्खा था कि उस धर्म्ममहामण्डली में खृष्टधर्म्म कीही जय पताका सर्वोपरि उड़ेगी और अन्य धर्म्मों की असारता चिरकाल के लिए सिद्ध हो जायगी। हिंदूधर्म्म सर्व प्रकार से साररहित है यह उन लोगोंने प्रकान्तर में निश्चय कर रखा था।

परंतु विधाता के गूढ़ अभिप्राय को समझना किसी मानव का साध्यायत्त नहीं है। यह किस पुरुष को विदित था कि ऊर्नात्रिशद्वर्षीय, कपर्दकशून्य, भिक्षाजीवी एक युवा परिव्राजक यह पराधीन, पददलित, घृणित व उपेक्षित हिन्दू जाति के उपेक्षित सनातन धर्म्म को और सब धर्म्मों के पुरोभाग में प्रतिष्ठित करने में सक्षम होंगे? किस पुरुष को यह विदित था कि एक साधारण वङ्गीय युवक समस्त पाश्चात्य सभ्य जाति के हृदय से हिन्दूधर्म्म के ऊपर बहुशतवर्षव्यापी घृणाभाव केवल-मात्र एकही व्याख्यान के द्वारा तिरोहित करने को समर्थ होंगे? किस पुरुष को यह विदित था कि सभ्य जातीय बहुतर वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, यशस्वी, मनीषीगण जगत् के अतिशय "भीरु और हेय" जातिप्रसूत

अल्पवयस्क युवक के निकट तर्क और युक्ति में पराजित होवेंगे? किस पुरुष को यह विदित था कि यह हीनप्रभ पराधीन मुमूर्षुप्राय हिन्दु जाति में एक अमूल्य सर्व श्रेष्ट धर्म्मरत्न विस्मृतिरूप अन्धकार में उपेक्षारूप धूली से आवृत्त हो रहा है, और कलिकाता विश्वविद्यालय का एक छात्र उसी रत्न का उद्धार साधन करके उसकी ज्योतिःपुज से समस्त सभ्य जाति के नेत्रों को चकाचौंधी लगा देगा? यह दुष्पूरणीय आशा किसी ने भी हृदय में पोषण करने का साहस नहीं किया था। परन्तु विधाता की इच्छा से यह आशा भी फलवती हुई और वे सब दुष्कर कार्य्य भी सुसम्पन्न हो गये।

विवेकानन्द ने जो विधाता के बल से बलीयान् होकर इस असम्भव कार्य्य को सुसम्पन्न किया वह बल किस महापुरुष के भीतर से उन में संक्रामित हुआ था? विवेकानन्द किस के अनुग्रह से अनुगृहीत होकर आज सर्व जगत् में माननीय हुए हैं? जिनके जन्म महोत्सब में प्रति वत्सर वसन्तागम में कलकत्ता के निकटवर्तिनी भागीरथी के पश्चिमीतीरस्थ बेलुड मठ—प्रासादके सुविशाल मैदान में सहस्त्र२ नर-नारियों का समागम होता है; जिनकी अति सरल बालबोध्य उपदेशावली, वेद, पुराण, तन्त्र, न्याय, साांख्य, मीमांसा प्रभृति का जटिल प्रश्नो की व्याख्या अत्यन्त सहज रूप से हृदयंगम करा देती हैं, जिनकी निरक्षरता के सहित सुगंभीर और सहज ज्ञान-राशि भाग्यवान् दर्शक वा श्रोतृमण्डली को युगपत् विस्मय और परमानन्द उत्पादन कर देती; जो व्यावहारिक पठनपाठन में अनभिज्ञ होने पर भी वंगदेश के कुलदेवतास्वरूप पण्डितप्रवर महादाता करुणासागर महात्मा मृत ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के तथा वाग्मीवर परम धार्म्मिक ब्राह्म धर्म्म के नेता केशवचन्दसेन के निरतिशय सम्मानभाजन औ पूजनीय हुए थे; जिनके दर्शन वो स्पर्श से बहुतर वंगीय युवकों के हृदय धर्म्म के पवित्र आलोक में उद्भासित हुए हैं, वही पूज्यपाद प्रेमरसपरिप्लुत, ज्ञान-गम्भीर श्रीरामकृष्ण देव ही इस महत् कार्य की सिद्धि के मूल हैं। श्रीमद्विवेकानन्द उन महात्मा के अतिशय प्रिय और बड़े आदर के पात्र थे, विवेकानन्द उन महात्मा के बल से बलीयान् थे इसीलिये इस असम्भव कार्य्य के सुसम्पन्न करने को समर्थ हुए थे।

जिस वक्तृता ने हिंदूधर्म्म का अदृष्ट फेर दिया है उस को जानने के लिए अंग्रेजी भाषा के अनभिज्ञ बहुत महाशयों को जानने की

इच्छा हो सकती है। और उनकी इच्छा पूरी करने के अर्थ हमने उक्त वक्तृता को सरल हिंदी भाषा में अनुवाद करने का प्रयत्न किया है। अवश्य यह सब सज्जनों को विदित है कि अनुवाद में मूल विषय की ओजस्विता, माधुर्य्य, वाक्य वा वर्णविन्यास के पारिपाट्य इत्यादि अनेक विषयों को हानि वा लाघव होही जाता है। वक्ताके यथार्थ भावों की स्फूर्ति अनुवाद में कभी प्राप्त नहीं होती है। परन्तु हमने यथाशक्ति यत्न की त्रुटि नहीं की। इससे यदि किसी महाशय को कौतूहल कंथचित भी चरितार्थ हो तो हम अपने परिश्रम को सफल मानेंगे और भविष्यत् में स्वामीजी की और वक्तृताओं को अनुवाद करके साधारण सज्जनों के पास प्रचार करदेंगे और श्रीरामकृष्णदेव की उपदेशावली भी हिन्दी भाषामें अनुवाद करके प्रचार करने की इच्छा है।

अनुवादकस्य

इस पुस्तिका में स्वामीजी द्वारा महासभा में प्रदत्त कुल ६ व्याख्यानों के हिंदी अनुवाद हैं। प्रथम व्याख्यान के प्रारभ में मंच का वर्णन करते हुए बताया गया है— "सभापति गिबन्स के चारों ओर पूर्व्वदेशीय प्रतिनिधियों का समूह एकट्ठा था जिन के नाना प्रकार के रंगीन वस्त्र अपनी २ भड़क दिखला रहे थे। ब्राह्म, बौद्ध और मुहम्मदीय महानुयाइयों के बीच मे, भड़कीले गेरुए रंग का काषाय वस्त्र धारण किये हुए हिन्दुस्तान के सुवक्ता सन्यासी स्वामी विवेकानन्द, विराजमान थे। उनके गेरुए रंग के चेहरे पर पीत वर्ण का एक मुड़ेठा शोभायमान था।...फिर हिन्दुस्तान के स्वामी विवेकानन्द सभामें उपस्थित किए गए। जब कि विवेकानन्द स्वामीने श्रोतागण को 'अमेरिका के भ्रातृगण और भगिनीगण' यह शब्द कहा तो हर्ष और सुख्याति की महाध्वनि गूंज उठी, जो कई मिनट तक होती रही, और उन्होंने इस प्रकार से व्याख्यान आरम्भ किया :—...।"

पुस्तिका में दिए गए बाकी व्याख्यान इस प्रकार हैं—

(२) संप्रदायों में भ्रातृभाव, ५म दिवस, १५ सितम्बर
(३) हिन्दूधर्म्म, नवम दिन, १६ सितम्बर
(४) बेचारे मूर्तिपूजकों के विषय में, २० सितम्बर
(५) बौद्ध मत और हिन्दूधर्म्म का सम्बन्ध, १६(वाँ) दिवस, २६ सितम्बर
(६) विदाई, १७वाँ दिन, २७ सितम्बर (शेषदिन)

अन्त में आभार प्रदर्शन करते हुए लिखा गया है— "रामकृष्ण अद्वैत आश्रम का धन्यवाद, हिन्दीप्रचारिणी सभा के मेम्बर बाबू ठाकुरप्रसाद और पं. उमाशंकर बि.ए. को पहुँचे, इन दो महाशयों ने और इस आश्रम के एक सन्यासी ने इस अनुवाद के अर्थ बहुतही परिश्रम किया।"

इस छोटी सी पुस्तिका का हिन्दी जगत् में भरपूर स्वागत हुआ। 'सरस्वती' मासिक के संपादक पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अगस्त, १९०४ ई. के अंक में (पृ २८३) इसकी समीक्षा करते हुए लिखा— "सरस्वती के पिछले अंकों में महात्मा रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द का चरित्र प्रकाशित हो चुका है। उनसे, इन महात्माओं के माहात्म्य का अनुमान सरस्वती के वाचकों को हो गया होगा। उक्त परमहंसजी का स्मारक एक आश्रम कुछ वर्षों से काशी में खुला है। उसका नाम है 'रामकृष्ण-अद्वैत-आश्रम'। इस आश्रम ने एक बडा अच्छा काम आरम्भ किया है। इसके प्रयत्न से स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होता है। इस अनुवाद-मालिका का पहला अङ्क, आज हमको प्राप्त हुआ है। इसमें, और छोटी छोटी वक्तृताओं के सिवा, स्वामीजी के उस उस व्याख्यान का

भाषान्तर है, जो उन्होंने अमेरिका के शिकागो नगर की धर्म्म-परिषद् में दिया था। इस व्याख्यान की बड़ी प्रशंसा हुई थी; इसकी बड़ी धूम मच गई थी। इस एक व्याख्यान से स्वामीजी का नाम दिगन्त-व्यापी हो उठा था। और, व्याख्यान है भी ऐसा ही। आश्रम ने यह बहुत ही स्तुत्य काम आरम्भ किया है। आश्रम को चाहिए कि स्वामीजी के ज्ञान-योग, भक्ति-योग और कर्म-योग आदि का भी, क्रम क्रम से, वह अनुवाद प्रकाशित करै। इस अनुवाद-माला की इस पहली पुस्तक में ५५ पृष्ठ हैं। इसका मूल्य –) है। इसे लेकर, और व्याख्यानों का अनुवाद करने के लिए, आश्रम को उत्साहित करना उचित है। यह पुस्तक गणेशदास कम्पनी, और भारतजीवन प्रेस, काशी, से मिलती है।"

इस प्रकार स्वामीजी के शिकागो वक्तृता देने के दस वर्ष के भीतर ही हमें उसके तीन हिन्दी अनुवाद प्रकाशित होने के विवरण मिलते हैं। उपरोक्त संस्करण अत्यन्त दुर्लभ होने के कारण हमने उनका सविस्तार परिचय दिया है।

सत्य और समाज

सत्य प्राचीन अथवा आधुनिक किसी समाज का सम्मान नहीं करती। समाज को ही सत्य का सम्मान करना पडेगा, अन्यथा वह नष्ट हो जायगा। समाजों को सत्य के अनुरूप ढाला जाना चाहिए, सत्य को समाज के अनुसार अपने को नही ढाला जाना चाहिए, सत्य को समाज के अनुसार अपने को नहीं ढालना पडता/ यदि निःस्वार्थता के समान महान सत्य समाज में कार्यरूप में परिणत न किया जा सकता हो, तो ऐसे समाज को छोडकर वन में चले जाना ही श्रेयस्कर है।

—स्वामी विवेकानन्द

विवेकानन्द और स्वाधीनता-आन्दोलन

शंकरी प्रसाद वसु

(स्वामीजी ने भारत के स्वाधीनता संग्राम को बड़ी गहराई से प्रभावित किया था। उनसे देशभक्ति की प्रेरणा लेकर असंख्य युवकों ने मातृभूमि की बलिवेदी पर अपने प्राण न्यौछावर कर दिए। कलकत्ता विश्वविद्यालय के विद्वान प्राध्यापक ने इस लेख में इसी विषय पर ऐतिहासिक विवेचन किया है। अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त केसरी' के १९८७ के वार्षिक अंक से यह लेख गृहीत एवं अनुवादित हुआ है—सं.)

इस लेख के प्रारम्भ में ही हम आपको इस सर्वविदित तथ्य की याद दिलाना चाहेंगे कि स्वामीजी ने भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लिया था।

तथापि इस आन्दोलन के प्रत्येक चरण पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उनका असीम प्रभाव हुआ। कहते हैं कि फ्रांसीसी क्रान्ति पर रूसो और रूसी तथा चीनी क्रान्ति पर मार्क्स का जैसा प्रभाव था, भारतीय आन्दोलन पर भी स्वामीजी का प्रभाव उससे कम नहीं था। भारत का स्वाधीनता आन्दोलन तथा राजनीतिक स्वतंत्रता में उसकी चरम परिणति मेरी दृष्टि में एक महान क्रान्ति से किसी भी मायने में कम न थी। तत्कालीन विश्व की सबसे प्रबल साम्राज्यवादी शक्ति ब्रिटेन, दबाव तथा शोषण के अपने कुशल तथा सर्वव्यापी तंत्र के माध्यम से भारत पर एक शताब्दी से भी अधिक काल तक हावी रही। उसके विरुद्ध संघर्ष करके भारतभूमि से उसे खदेड़ना, यदि क्रान्ति शब्द से तात्पर्य एक महान राजनीतिक परिवर्तन से हो, तो यह उससे कम न था।

व्यापक राष्ट्रीय चेतना की पृष्ठभूमि के बिना कोई भी राजनीतिक आन्दोलन सम्भव नहीं। तत्कालीन समस्त

स्रोतों से यह सिद्ध होता है कि भारत में राष्ट्रीयता का भाव जगाने में स्वामीजी का प्रभाव ही सर्वाधिक सशक्त था। निवेदिता के शब्दों में, "वे नींव पर कार्य करने वाले कर्मी थे। जैसे किसी ग्रन्थ का अध्ययन किए बिना ही श्रीरामकृष्ण वेदान्त के सजीव निष्कर्ष थे, वैसे ही राष्ट्रीय जीवन के सन्दर्भ में विवेकानन्द थे।"

स्वामीजी के आविर्भाव के पूर्व राष्ट्रीयता के क्षेत्र में क्या-क्या हुआ था, हम इस विषय पर चर्चा में नहीं जाएँगे। अग्रेजी शिक्षा, क्षेत्रीय साहित्य, भारतीय पत्रकारिता, सुधार आन्दोलन, राजनीतिक सगठन जिनमें काँग्रेस भी शामिल था— ये सभी उनके पहले आकर अपना प्रभाव-विस्तार कर चुके थे। परन्तु इन सबके बावजूद देश में राष्ट्रीय चेतना का अभाव था। नहीं तो फिर मद्रास का 'हिन्दू' पत्र १८९३ के प्रारम्भ में बहुसख्यक हिन्दू समुदाय के धर्म के विषय में क्यों लिखता कि 'यह मृतप्राय है,' 'इसका प्रवाह सूख चुका है'? और वही पत्र एक वर्ष के भीतर ही तथा बाद में भी अन्य आग्ल-भारतीय तथा मिशनरी पत्रों के साथ एक स्वर में यह लिखने को बाध्य हुआ, "वर्तमान काल को...हिन्दू इतिहास के पुनर्जीवन काल के रूप में वर्णित किया जा सकता है।" (Madras Christian College Magazine, March 1987). इसे एक 'राष्ट्रीय उत्थान' भी कहा गया था। Madras Times, 2 March 1985). यह चमत्कार कैसे घटित हुआ? समकालीन विवरणों से इसका केवल एक ही उत्तर मिलता है और वह यह कि इसी दौरान स्वामी विवेकानन्द धर्ममहासभा में प्रकट हुए, वहाँ उन्होंने भारतीय धर्म तथा सभ्यता की महिमा घोषित की, अपने प्राचीन राष्ट्रीय विरासत के लिए मान्यता अर्जित की और इस प्रकार

अपने देशवासियों को दीर्घकाल से खोया हुआ उनका स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास लौटा दिया।

भारत लौटने के बाद स्वामीजी ने स्वदेशवासियों का अपनी अन्तर्निहित शक्ति में विश्वास करने, भारत की महानता के प्रति सम्मान दिखाने और भद्दे अन्धविश्वासों तथा सामाजिक अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए आह्वान किया। भारवासियों को उन्होंने आधुनिक मशीनी युग के अभिनव विचारों तथा वैज्ञानिक जानकारियों को अंगीकार करने के लिए प्रेरित किया। एक ठोस नींव पर उन्होंने राष्ट्रनिर्माण का मार्ग दिखाया। अतीत का इतिहास बताता है कि भारतवर्ष में सर्वदा एक धार्मिक आन्दोलन के बाद ही राष्ट्रीय पुनरुत्थान होता रहा है। भारत में बहुमस्व्य लोगों के धर्म— हिन्दुत्व में नवजीवन का संचार किए बिना, यहाँ राष्ट्रीय जागरण सम्भव न था। स्वामीजी ने यही किया और साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि हिन्दुत्व तथा अन्य धर्म अपने आपको एक ही राष्ट्र के अंग समझते हुए आपस में सामंजस्यपूर्वक रह सकते हैं। एक धर्मनायक के रूप में उनकी मूलभूत भूमिका ने स्वामीजी को निर्विवाद रूप से भारत के स्वाधीनता-आन्दोलन का आध्यात्मिक पिता बना दिया।

भारतीय राष्ट्रीयतावाद – विशेषकर उग्र राष्ट्रीयतावाद को स्वामीजी के अवदान निम्नलिखित हैं—

१. स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास जगाना।
२. सक्रिय उत्साह पैदा करना। "उठो, जागो और लक्ष्य तक पहुँचे बिना रुको मत।" "विस्तार ही जीवन है और सकुचन मृत्यु।"
३. पूर्ण समर्पण का भाव – "मत भूलना कि तुम्हारा

जन्म 'माँ' की वेदी पर बलि जाने के लिए ही हुआ है।" "देते जाओ, कभी प्रतिदान की अपेक्षा न रखो, तुम्हारा धन तो हृदय में सुरक्षित रखा है।"

४. बल तथा संघर्ष का सन्देश– "जीवन संघर्ष है।" "संघर्ष करो, मृत्युपर्यन्त संघर्ष करो।" "मैं संघर्ष में विश्वास करता हूँ।" "उपनिषद केवल अभीः की घोषणा करते हैं।"
५. देश तथा जनता के लिए उत्कट प्रेम।
६. भारत के सभी अंगों का परस्पर सम्बन्ध।
७. सभी व्यक्तियों के समान अधिकार और तदनुरूप कर्तव्य।
८. धर्मों का समन्वय तथा अन्य मूलभूत विचार।
९. देश के सम्मुख खड़ी वास्तविकताओं, सच्ची समस्याओं का बोध।
१०. सामाजिक उत्थान, जनशिक्षा पर बल।
११. चरित्र-निर्माण पर जोर – "मनुष्य बनाना ही मेरा धर्म है।"
१२. इन सबकी उपलब्धि के लिए युवा-शक्ति संगठित करके उसे राष्ट्रनिर्माण के कार्य में नियोजित करना।

इनमें और भी दो बातें जोड़नी हैं। स्वामीजी ने भारतवासियों से अनुरोध किया कि वे संकीर्ण राष्ट्रवाद को त्यागकर सभी समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में रखते हुए निर्णय लें। उन्होंने राष्ट्रीय पथों पर चलकर सुधार लाने तथा राष्ट्रीय एकता के लिए संघर्ष करने को प्रेरणा दी।

ये समस्त विचार या तो प्रत्यक्ष रूप से उन्हीं के द्वारा अथवा उनकी पुस्तकों के माध्यम से सारे देश में व्यापक रूप से फैल गए। इन ग्रन्थों ने कभी-कभी तो गोपनीय

क्रान्तिकारी साहित्य का भी रूप लिया, जैसा कि डॉ. राधाकृष्णन ने बताया है कि हस्तलिखित प्रतिलिपियों के रूप में यह छात्रों के बीच प्रसारित होता था। जब कोई वस्तु वायु अथवा जल के समान सर्वत्र व्याप्त हो जाती है, तब उसके प्रभाव के परिमाण का आकलन कठिन हो जाता है। स्वामीजी के साथ भी ऐसा ही हुआ। तथापि भविष्य के ऐतिहासिक मूल्याकन की दृष्टि से कुछ तथ्यों एव साक्ष्यों का सकलन होना ही चाहिए।

स्वामीजी ने जिस कार्य का बीड़ा उठाया था, उसके लिए वे विशेष रूप से सक्षम थे। वे अत्यन्त प्रतिभावान थे, प्राच्य तथा पाश्चात्य दर्शन व इतिहास में उनकी अच्छी गति थी, साहित्य के वे ज्ञाता थे, महान श्रीरामकृष्ण (जो भारत की चिरकालीन आध्यात्मिक विरासत के चरम उत्कर्ष के रूप में प्रतिष्ठित थे) से उन्होंने आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की थी और छह वर्ष तक भारतवर्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक का भ्रमण करते, राजाओं तथा अस्पृश्यों के साथ समान भाव से निवास करते हुए उन्होंने भारतीय जीवन के समस्त पहलुओं का व्यापक एव अन्तरग अनुभव प्राप्त किया था। साथ ही उन्होंने पाश्चात्य प्रणालियों के प्रत्यक्ष ज्ञान की भी उपलब्धि की थी। नि:सन्देह वे इस कार्य के लिए सर्वथा योग्य थे। और सर्वोपरि था अपने कोटि-कोटि भूखे भाइयों तथा बहनों के प्रति उनका उद्दाम स्नेह!

स्वामीजी के इतिहास-बोध, कुशाग्र बुद्धि तथा प्रत्यक्ष अनुभूति ने उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यवाद के सच्चे स्वरूप मे अवगत कराया, जिसे दुर्भाग्यवश तत्कालीन भारतीय नेतागण समझ नहीं सके थे। ब्रिटिश शासन के द्वारा

यदा-कदा होनेवाले चूकों से परिचित होकर भी ये नेता सोचते थे कि कुल मिलाकर यह जनता के लिए कल्याणकर ही है। उनमें से अनेकों की दृष्टि में यह शासन एक 'दिव्य विधान' था और वे सहज भाव से उसके प्रति निष्ठा की शपथ लेते थे। परन्तु स्वामीजी ब्रिटिश शासन को पूरी तौर से पैशाचिक कृत्य मानते थे। उनके अन्दर निहित समाजशास्त्री ने दावा किया कि यह शासन ('ईश्वर राजा की रक्षा करें'— इस राष्ट्रगान के बावजूद) किसी भी मायने में राजोचित न था ; बल्कि यह पूरी तौर से निर्मम शोषण के एकमात्र उद्धेश्यवाला पूँजीवादी शासन था। स्वामीजी के निम्नलिखित शब्दों में हमें उनकी काव्यमय भाषा में वर्णित एक दुर्लभ सामाजिक-राजनीतिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है—

> *इसलिए भारत पर इंग्लैण्ड की विजय— जैसा कि हम लोग बचपन में सुना करते थे, ईसामसीह या बाइबिल की विजय नहीं है और न पठान-मुगल आदि बादशाहों की विजय की भाँति ही है। ईसामसीह, बाइबिल, राजप्रासाद, अनेक प्रकार से सजी-सजायी बडी-बडी सेनाओं का सगर्व कूच तथा सिंहासन का विशेष आडम्बर आदि— इन सबके पीछे असली इग्लैण्ड विद्यमान है। उस इग्लैण्ड की ध्वजाएँ कारखानों की चिमनियाँ हैं, उसकी सेना व्यापारी जहाज है, उसका युद्धक्षेत्र ससार का बाजार है और उसकी महारानी स्वर्णाभूषित भाग्यलक्ष्मी है।**

स्वामीजी के समय का काँग्रेस वह काँग्रेस न था, जिसने परवर्ती काल में राष्ट्रीय सघर्ष का नेतृत्व किया। स्वामीजी ने अप्रत्यक्ष, परन्तु निश्चित रूप से काँग्रेस को एक नई दिशा अपनाने को प्रेरित किया। वे काँग्रेस की आवेदन-निवेदन की नीति के विरोधी थे ; उन्होंने

* विवेकानन्द साहित्य (कलकत्ता, १९६३) खण्ड ९, पृ २०९-१०

राष्ट्रवादियों से अनुरोध किया कि वे अपने बौद्धिक तथा सांसारिक अभिमान के उच्च आसन से उतर आएँ और निम्नतम लोगों के साथ मिल-जुलकर उनके कष्टों में हिस्सा बटाएँ। स्वामीजी ने उन्हें मनुष्य निर्माण करनेवाली शिक्षा के द्वारा संगठित होने तथा स्वदेश के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर डालने की प्रेरणा प्रदान की। परवर्ती काल के काँग्रेस ने उनकी प्रायः सभी कार्य-योजनाओं की स्वीकार कर लिया।

प्रत्यक्ष रूप से स्वामीजी की प्रेरणा को जिस राजनीतिक आन्दोलन ने सर्वप्रथम अनुभव किया, वह था सुप्रसिद्ध स्वदेशी आन्दोलन, जो उनके देहावसान के मात्र तीन वर्ष बाद ही प्रारम्भ हुआ। समकालीन सभी गणमान्य विचारकों ने स्वीकार किया है कि बंगाल का स्वदेशी आन्दोलन ही आगे चलकर अखिल भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन में परिणत हो गया था। गोपनीय सरकारी दस्तावेजों में भी यही मत प्रतिध्वनित हुआ है। कार्यक्रम तथा प्रणाली की दृष्टि से यही आन्दोलन भविष्य के गाँधीवादी आन्दोलन का पूर्वज था। इसके 'सत्याग्रह तथा बायकाट' ने गाँधीवादी 'असहयोग', और 'स्वदेशी' ने 'चरखे के दर्शन' का मार्ग प्रशस्त किया। इसने काँग्रेस को सरकार के साथ खुले संघर्ष में धकेल दिया। इसने काँग्रेस में चरमपन्थी तत्त्वों को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप अन्ततः नरमपन्थी इसके दायरे से अलग हो गए। कुछ काल पूर्व आरम्भ हुई क्रान्तिकारी गतिविधियों ने इन दिनों एक सुनिश्चित साहस का परिचय दिया। इसीलिए तो गाँधीजी ने कहा था, "बंगाल का विभाजन ही ब्रिटिश साम्राज्य के विभाजन में परिणत हुआ।"

यह तथ्य बड़ा ही रोचक है कि नरमपन्थी, चरमपन्थी, क्रान्तिकारी, गाँधीवादी— राष्ट्रीय आन्दोलन की इन सभी प्रवृत्तियों पर स्वामीजी का प्रभाव हावी रहा।

नरमपन्थी—उदाहरण के लिए हम उस काल के दो नरमपन्थियों— श्री सुरेन्द्रनाथ बॅनर्जी तथा श्री गोपालकृष्ण गोखले कृत विवेकानन्द-मूल्यांकन को लेंगे। सुरेन्द्रनाथ ने अपने 'बगाली' पत्र के २९ अप्रैल, १९१३ के अंक के सम्पादकीय में स्वामीजी की जीवनी पर समीक्षा करते हुए कार्लायल के निम्नलिखित शब्द उद्धृत किए थे, "एक राष्ट्र का इतिहास उसके महापुरुषा का इतिहास है," और तत्पश्चात समकालीन भारतवर्ष के महापुरुषों के रूप में उन्होंने श्रीरामकृष्ण तथा विवेकानन्द का उल्लेख किया था। "शिक्षित भारत के ...उज्ज्वल आध्यात्मिक पथप्रदर्शकों" के रूप में उन्हें प्रस्तुत करते हुए सुरेन्द्रनाथ ने लिखा था, "विवेकानन्द इससे भी कुछ अधिक थे ।...वे सच्चे अर्थों में एक देशभक्त थे।"

'इंडियन सोशल रिफार्मर' पत्र के सुप्रसिद्ध सम्पादक श्री कामाक्षी से हमें ज्ञात होता है कि स्वामीजी के प्रभाव से गोखले के धार्मिक विचारों में परिवर्तन आया था। ऐसे साक्ष्य उपलब्ध हैं जिनसे पता चलता है कि गोखले के सामाजिक विचार – विशेषकर जनसाधारण की उन्नति के बारे में उनका आग्रह - स्वामीजी द्वारा ही प्रेरित थे।*

चरमपन्थी – गरम दल (जो अपने को राष्ट्रवादी कहलाना पसन्द करता था) का गठन स्वदेशी आन्दोलन के

* बँगला भाषा में शकरी प्रसाद वसु द्वारा लिखित 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष' (कलकत्ता मण्डल बुक हाउस) खण्ड ३, पृ. ३४०

दिनों में हुआ, जिसके नेता श्री बाल गंगाधर तिलक का, जैसा कि हम जाते हैं स्वामीजी के साथ साक्षात् परिचय था। स्वामीजी ने तिलक के सामाजिक तथा धार्मिक विचारों को प्रभावित किया था। तिलक स्वामीजी को अपने काल का महानतम व्यक्ति मानते थे, जिन्होंने भारत की अत्यावश्यक राष्ट्रीय चेतना का जागरण किया था। उन्होंने विवेकानन्द की भूमिका की शंकराचार्य के साथ तुलना करने में भी कोई संकोच नहीं किया। श्री विनायक विष्णु रानाडे के संस्मरणों से हमें ज्ञात होता है कि बेलुड़ मठ में मुलाकात होने पर स्वामीजी ने तिलक से कहा था कि शत्रुओं का सामना करने के लिए, लगे तो 'विध्वंशक उपायों' का भी सहारा लिया जा सकता है। तिलक की 'मराठा' नामक पत्रिका ने स्वामीजी को भारतीय राष्ट्रीयतावाद का जनक माना था। अपने १४ जनवरी १९१२ के अंक में इसने लिखा, "स्वामी विवेकानन्द भारतीय राष्ट्रीयतावाद के सच्चे पिता हैं।... प्रत्येक भारतवासी को अपने आधुनिक भारत के इन पिता पर गर्व है।"

स्वदेशी युग के महानतम वक्ता श्री विपिनचन्द्र पाल, श्री अरविन्द के कथनानुसार जिनके व्याख्यानों से ज्वाला निकला करती थी, ने ऐनी बेसेण्ट के 'कामनवील' नामक पत्र के १८ अगस्त १९१६ के अक में लिखा था – "निश्चित रूप से विवेकानन्द हमारे आधुनिक राष्ट्रीयतावाद के महानतम प्रचारक तथा आचार्य होने का दावा कर सकते हैं। अपने राष्ट्र व संस्कृति के प्रति उत्कट प्रेम – उस अतीव संवेदनशील देशभक्ति का सगीत सर्वप्रथम उन्होने ही छेडा था, जो पिछली दशाब्दी के राष्ट्रीयतावादी प्रचार में इतने प्रबल रूप से अभिव्यक्त हुआ था।"

एनी बेसेण्ट ने, थियॉसाफिकल सोसाइटी की एक धर्माचार्या से लेकर होमरूल आन्दोलन की नेत्री तक की, भारत में अनेक तथा विविध प्रकार की भूमिकाएँ निभाई हैं। १९१५ ई. में प्रकाशित अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक, 'India : A plea for Indian Self-Government' में वे खुलेआम ज्ञापित करती हैं, "विवेकानन्द ने राष्ट्रीयता के प्रबलतम भाव को जगाया।"

महान मानवतावादी देशबन्धु चित्तरजन दास पहले तो असहयोग आन्दोलन में गाँधीजी से जुड़कर इसके एक नेता हुए और बाद में गाँधीवादी नीति से किंचित् अलग होकर उन्होंने पं. मोतीलाल नेहरू के साथ स्वराज्य पार्टी की स्थापना की। १९२३ से १९२५ ई. के दौरान वे भारतीय राजनीति की एक प्रमुख हस्ती रहे (इस बात का उल्लेख न केवल सुभाषचन्द्र बोस ने, अपितु तत्कालीन गवर्नर-जनरल लार्ड रीडिंग ने भी अपने गोपनीय पत्र -व्यवहार में किया है)। ये श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आए थे। (कुमारी मैक्लाउड को उन्होंने बताया था, "विवेकानन्द मेरे शिक्षक थे।") राजनीति में उन्होंने 'दरिद्रनारायण-सेवा' का आदर्श अपनाया। देशबन्धु ने किसानों तथा मजदूरों की शक्ति को संघर्ष की मूलधारा के साथ जोड़ने का अथक प्रयास किया और भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को यही उनका सर्वाधिक दूरगामी तथा मौलिक अवदान था। स्वामीजी से प्राप्त प्रेरणा में ही इसका मूल निहित था। वे भारतीय राजनीति को देश की परम्परा के अनुसार समाजवादी विचारों से अनुप्राणित करना चाहते थे और इस दिशा में प्रयास करनेवालों में वे अग्रणी थे। यदि ऐसी बात हो तो यह

भारतीय राजनीति में स्वामीजी के प्रभाव का एक अन्य पहलू उजागर करता है। यहाँ पर नेताजी सुभाष की एक सुस्पष्ट उक्ति उद्धरणीय है—

*समाजवाद का जन्म कार्ल मार्क्स की पुस्तकों में नहीं हुआ। इसका प्रादुर्भाव भारत की ही विचारधारा तथा सभ्यता में हुआ था। जनतत्र का जो सन्देश स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रचारित हुआ था, वही देशबन्धु के लेखन तथा उपलब्धियों में पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हुआ। उन्होंने कहा था कि नारायण का निवास उनमें है, जो खेत जोतते है, जो पसीना बहाकर हमारी रोटी तैयार करते हैं और जिन्होने गरीबी में पिसते रहकर भी हमारी सभ्यता सस्कृति तथा धर्म की मशाल को प्रज्ज्वलित रखा है।**

क्रान्तिकारी – प्रासंगिक ऐतिहासिक विवरणों, गोपनीय सरकारी दस्तावेजों, प्रकाशित रिपोर्टों तथा विप्लवी नेताओं द्वारा लिखित संस्मरणों से हमें क्रान्तिकारी आन्दोलन पर पड़े स्वामीजी के प्रबल प्रभाव का साक्ष्य मिलता है। स्वामीजी का साहित्य उग्रवादियों द्वारा व्यापक रूप से पढ़ा जाता था, व्यावहारिक दृष्टि से वे ही उनकी पाठ्य-पुस्तकें थीं और विवेकानन्द के जादूभरे नाम का प्रयोग करके तथा रामकृष्ण मिशन के सदस्यों में से भी क्रान्तिकारी दलों की भरती की जाती थी। स्वामीजी के साहित्य के अनेक अश उग्र राजनीति के लिए उपयोग में लाए जा सकते हैं– इस ओर ध्यान जाने पर अंग्रेज सरकार ने स्वामीजी की पत्रावली को जप्त करने तथा रामकृष्ण मिशन पर प्रतिबन्ध लगाने का भी विचार किया था। इसमें कुछ भी विस्मयजनक न था क्योंकि स्वामीजी अपने जीवनकाल में

---

* Selected Speeches of Subhas chandra Bose (Publication Division Govt. of India) p.50

स्वयं भी सन्देह की दृष्टि से देखे जाते थे, गुप्तचरों के माध्यम से उन पर निगाह रखी जाती थी तथा उन्हें तंग भी किया जाता था। लार्ड कारमाइकेल ने तो अपने दरबार भाषण में खुलेआम रामकृष्ण मिशन पर दोषारोपण किया था और इसके फलस्वरूप मिशन का अस्तित्व तक खतरे में पड़ गया था। गोपनीय पुलिस रिपोर्ट के दो अंश प्रस्तुत हैं –

> *वेदान्त समिति की शिक्षाओं में राजनीतिक राष्ट्रवाद की ओर रुझान है। विवेकानन्द ने स्वयं सामान्यतया इसके राजनीतिक पक्ष से दूरी बनाए रखी, परन्तु अनेक राष्ट्रीयतावादियों द्वारा वे इस आन्दोलन के गुरु माने जाते हैं।*

> *स्पष्ट है कि (विवेकानन्द की) इन शिक्षाओं का थोडा सा परिवर्तित रूप अरविन्द घोष के समान आदर्शवादी क्रान्तिकारियों के हाथ का एक शक्तिशाली अस्त्र था। स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाओं के कुछ अश राजद्रोह के भाव से परिपूर्ण है। क्रान्तिकारी दलों ने उनके दुरुपयोग की सम्भावनाओं को पूरी तौर से समझा तथा उनसे लाभ उठाया है। राजनीतिक शरणार्थियों ने अनेक मान्यता प्राप्त मठों में आश्रय लिया है और क्रान्तिकारी सिद्धान्तों के प्रचारकेन्द्र के रूप में पूर्वी बगाल में अनेक बनावटी आश्रमों का बडी तेजी के साथ प्रादुर्भाव हुआ है।**

भगिनी निवेदिता ने भी अपने लेखों, व्याख्यानों तथा व्यक्तिगत सम्पर्कों के द्वारा भारतीय राष्ट्रीयतावाद के

---

* कलकत्ता के गुप्तचर विभाग के विशेष पुलिस अधीक्षक श्री सी.ए टेगार्ट द्वारा १५ मई १९१४ ई. को रामकृष्ण मिशन पर लिखित रिपोर्ट मे उद्धृत। अग्रेजी में प्रकाशित मूल रिपोर्ट के लिए देखिए बँगला ग्रन्थ 'विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष', खण्ड ६, पृ २५७-३०६।

जागरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की और वे क्रान्तिकारी आन्दोलन के साथ गहराई से जुडी थीं। मानवतावादी पत्रकार डब्ल्यू. नेविनसन उन्हें 'चमकती तलवार के साथ एक सैनिक' समझते थे, जिनसे केवल 'स्वाधीनता के युद्ध में ही' मिला जा सकता था। नेविनसन ने उनका वर्णन इन शब्दों में किया है, "शत्रु के समक्ष उनकी आँखें दहकते फौलाद में परिणत हो जाती थीं और क्रोध के समय उनका वर्ण गैरीबाल्डी के समान गहरे रग का हो जाता था।"

स्वामीजी के देहावसान के पश्चात, १९०२ ई. के परवर्ती भाग से लेकर १९०५ तक निवेदिता ने अपने लेखों (उन्होंने एक असाधारण पुस्तक लिखी है– The web of indian life – 'भारतीय जीवन का तानाबाना', जो अब भी भारत के सामाजिक जीवन, चिन्तन तथा सस्कृति पर सर्वोत्तम रचना मानी जाती है; इसके अतिरिक्त कुछ छद्मनामों के साथ, तो कुछ बिना नाम दिए ही उन्होंने असंख्य लेख भी लिखे), व्याख्यानों (उनके प्रभावशाली व्याख्यानों का बारूद के रूप में वर्णन किया जाता था) और व्यक्तिगत सम्पर्कों (वे इसे कैसे सम्पन्न करती थी इसका विवरण बमनिर्माता क्रान्तिकारी श्री हेमचन्द्र कानूनगो ने दिया है) के माध्यम से भारत के राजनीतिक तथा राष्ट्रीय जीवन पर ऐसा अद्‌भुत प्रभाव डाला कि स्टेट्समैन के सम्पादक तथा प्रख्यात समाजशास्त्री श्री एस के रेटक्लिफ ने उनकी भूमिका का मूल्याकन करते हुए लिखा है– "नवीन भारत के निर्माण में जो प्रभावी शक्तियाँ कार्यकर हुई हैं, वे अब भी अस्पष्ट हैं, परन्तु यह बात पूर्ण निश्चितता के साथ कही जा सकती है कि उनमें से कोई भी

एक तत्त्व भगिनी निवेदिता के चरित्र, जीवन तथा वाणी की बराबरी का या उससे बढ़कर नहीं रहा।" और इसमें कोई सन्देह नहीं कि राजनीति के क्षेत्र में निवेदिता ही स्वामीजी की ध्वजवाहिका थीं।

स्वदेशी युग (१९०४-१९१०) के दौरान श्री अरविन्द ने क्रान्तिकारी विचारों के प्रसार तथा क्रान्तिकारी क्रिया-कलापों के संगठन में एक प्रमुख भूमिका निभाई। बाह्य दृष्टि से यद्यपि वे कॉंग्रेस के अन्तर्गत ही राष्ट्रवादी दल के एक नेता थे, तथापि उनके धार्मिक एवं राजनीतिक जीवन पर श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी का प्रभाव सुविदित है। इन दिनों वे श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी पर लिखते थे, बोलते थे और उनके राष्ट्रीय आदर्शों के एक मुख्य प्रवक्ता हो गए थे। अपने 'भवानी-मन्दिर' पत्रक में अरविन्द ने श्रीरामकृष्ण को उस मन्दिर के नरदेव तथा विवेकानन्द को उनके सन्देशवाहक के रूप में चित्रित किया है। परवर्ती काल में उन्होंने स्वीकार किया कि मुख्यतः श्रीरामकृष्ण तथा विवेकानन्द के पार्श्वभूमि में विद्यमान रहने के कारण ही स्वदेशी आन्दोलन को सफलता मिली थी। स्वामीजी के समान ही अरविन्द का भी विश्वास था कि श्रीरामकृष्ण सभी अवतारों में महानतम एवं सबकी परिपूर्ति हैं और उन्होंने "भावी भारत के प्रतिनिधि के रूप में विवेकानन्द को तैयार किया... तथा उनसे कहा, 'तू वीर है रे'। श्रीरामकृष्ण ने इस 'वीर' में अपनी शक्ति का संचार किया, अ मध्याह्न रवि की प्रचण्ड रश्मियों के समान पूरे देश में व्याप्त हो गया।" अरविन्द ने स्वामीजी के नाम पर आह्वान किया, "देखो! विवेकानन्द अपनी जननी तथा उनकी सन्तानों की अन्तरात्मा में अब भी जीवित हैं।"

वारीन्द्र, देवव्रत, भूपेन्द्रनाथ आदि अरविन्दवादी क्रान्तिकारियों तथा युवावर्ग के चित्त पर अत्यन्त प्रभाव डालनेवाला 'युगान्तर' पत्र– इनमें से अधिकाश पर पड़नेवाले स्वामीजी के प्रभाव की यहाँ चर्चा करने की आवश्यकता नहीं।

बंगाल के क्रान्तिकारी, जिनमें से कुछ परवर्ती काल में मार्क्सवादी हो गये, अपने जीवन के विकास काल के दौरान पड़े स्वामीजी के प्रभाव को स्वीकार करते हैं।

अब हम रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ओर उन्मुख होते हैं। उन्हें क्रान्तिकारी आन्दोलन का हामी नहीं कहा जा सकता और यहाँ तक कि उन्होंने अपने कुछ उपन्यासों में इस आन्दोलन का काफी-कुछ विकृत चित्र भी खींचा है, तथापि वे इन युवकों के अदम्य साहस तथा त्यागभाव की प्रशसा किए बिना नहीं रह सके। उन्होंने इन युवकों पर स्वामीजी के प्रभाव का वर्णन इस प्रकार किया है –

> *विवेकानन्द का सन्देश हममें निहित पूर्ण मनुष्यत्व के जागरण की अपेक्षा रखता है, अतएव इसने हमारे अनेक नवयुवकों को कर्म तथा त्याग-बलिदान के माध्यम से मुक्ति के विविध पथों पर चलने की प्रेरणा प्रदान की है। ...बगाल के युवावर्ग में अदम्य साहस का जो भाव आज हमें दीख पडता है, उसके मूल में विवेकानन्द का सन्देश है। इसने उन लोगों की उँगलियाँ नहीं, वरन उनकी अन्तरात्मा को उत्थित कर दिया है।*

सुभाषचन्द्र बोस को अंग्रेज सरकार भारत का सबसे खतरनाक व्यक्ति मानती थी और वे भारत की [illegible] क्रान्तिकारी भावधारा के मूर्तरूप थे। उन्होंने बार[illegible], बताया कि उनका जीवन स्वामीजी के प्रभाव से ही गठित हुआ है और युवकों से अनुरोध किया कि वे स्वामीजी के आदर्शों का अनुसरण करें। उनके मतानुसार राष्ट्र को

चरित्रनिर्माण के लिए स्वामीजी ने ही सर्वोत्तम आदर्श प्रदान किया है। स्वामीजी की ज्वलन्त देशभक्ति सुभाष की नसों में पिघले हुए लावे के समान बहती रही और उन्हें सर्वस्व अर्पित कर निरन्तर संघर्ष में प्रेरित करती रही। उन्होंने अपनी राजनीति विचारधारा में स्वामीजी के 'शक्ति' का दर्शन अपनाया और उन्हीं के समन्वय-भाव को उसका आधार बनाया। दक्षिण-पूर्व एशिया के पूर्ण संगठन के लिए उनका बोधवाक्य – एकता, विश्वास तथा समर्पण – स्वामीजी से की गृहीत हुआ था। उनकी दृष्टि में स्वामीजी पूर्ण विकसित पौरुष के प्रतिनिधि थे। स्वामीजी के बारे में उन्होंने कहा था, "वे अपने त्याग में असयमित, कर्म में अथक, प्रेम में असीम, विद्याबुद्धि में गहन व बहुमुखी, भावुकता में अतिरेकी तथा सघर्ष में निर्मम थे और इन सबके बावजूद वे एक शिशु के समान सरल थे।" (तो फिर सुभाष द्वारा स्वयं को स्वामीजी का एक शिष्य मानने के दावे के औचित्य पर भला कौन सन्देह कर सकता था!)

सम्पूर्ण घटनाक्रम पर दृष्टिपात करने के बाद हमें स्वीकार करना होगा कि गाँधीजी ने स्वाधीनता आन्दोलन में जनचेतना का आनयन किया। १९२१ से १९४२ ई. के दौरान उन्होंने इस सघर्ष का नेतृत्व किया और राजनीतिक स्वाधीनता की उपलब्धि में उन्हीं का योगदान सर्वोपरि था। गाँधीजी श्रीरामकृष्ण तथा विवेकानन्द से गहन रूप में प्रभावित तथा प्रेरित थे। इस विषय पर थोड़ा विस्तारपूर्वक अध्ययन आवश्यक है। यद्यपि गाँधीजी का अहिंसात्मक आन्दोलन तथा चरखे का अर्थशास्त्र स्वामीजी के विचारों का अनुसरण नहीं था, तथापि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया है कि स्वामीजी के ग्रन्थों के अध्ययन से उनकी

देशभक्ति में काफी वृद्धि हुई थी। गाँधीजी की अपनी स्वीकारोक्तियों, उनके निकट सहयोगियों (यथा विनोबा भावे, निर्मल कुमार बोस तथा सी. एफ. एन्ड्रूज – एन्ड्रूज ने रोलाँ को बताया था) और उनके भारतीय तथा विदेशी जीवनीकारों से हमें ज्ञात होता है कि गाँधीजी ने जब हरिजन-उद्धार जैसे सामाजिक सुधार आन्दोलनों का नेतृत्व किया तो उनके माध्यम से स्वामीजी के ही विचार एव आदर्श रूपायित हो रहे थे। गाँधीजी ने आत्मशुद्धि के आधार पर सामाजिक पुनर्निर्माण को राजनीतिक सगठन कार्यों से कम महत्वपूर्ण नहीं समझा। उनका कहना था कि सामाजिक सुधार के पहले राजनीतिक सगठन प्राणहीन मशीन के समान होगा। यदि ऐसी बात हो तो फिर गाँधीजी की दृष्टि में श्रीरामकृष्ण तथा विवेकानन्द दो सजीव चरित्र थे। गाँधीजी के अनुयाइयों ने नि:संकोच रूप से कहा कि महात्मा गाँधी ने स्वामीजी के दरिद्रनारायण की सेवा का धर्म अपनाया और असख्य भारतीय ग्रामों तथा करोड़ों भूखे व पीड़ित लोगों में इसका प्रसार किया। वस्तुत: गाँधीजी के जीवन पर स्वामीजी की अपेक्षा श्रीरामकृष्ण का प्रभाव अधिक स्पष्ट है। श्रीरामकृष्ण उनकी दृष्टि में अहिसा तथा सत्य के प्रतीक थे। श्रीरामकृष्ण ने धर्मसमन्वय के महान आदर्श का रूपायन तथा प्रचार किया। गाँधीजी के सुप्रसिद्ध जीवनीकार प्यारेलाल ने इसका सुस्पष्ट विश्लेषण किया है: वे बताते हैं कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण के सामाजिक काम-वासनाहीन विवाहित जीवन के आदर्श ने गाँधीजी को, न केवल बड़ी गहराई से प्रभावित किया, अपितु इसी को उन्होंने अपना जीवनादर्श बना लिया था और इसी को उन्होंने देश के राजनीतिक जीवन में भी सचारित करने क

प्रयास किया। वे लिखते है– "उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में यह (गृहस्थों के लिए ब्रह्मचर्य का आदर्श)... भारत में अभूतपूर्व अहिंसक जन-जागरण का एक महत्वपूर्ण तत्त्व बन गया।"* प्यारेलाल ने आगे लिखा है, "धर्म में उनका (श्रीरामकृष्ण) प्रयोग ('पहले अनुभूति फिर विश्वास') गाँधीजी के 'सत्य के प्रयोग' का पूर्वाभास था। सभी धर्मों में निहित सत्य का उनका सिद्धान्त गाँधीजी के 'सब धर्मों के प्रति उचित सम्मान' और सिद्धान्तवादी विवादों को उनके द्वारा पण्डितों का निरर्थक समय बिताने का साधन कहकर तुच्छ बताना गाँधीजी द्वारा धर्मान्तरण सम्बन्धी समस्त क्रियाकलापों को अधार्मिक बताकर नकारने में प्रतिध्वनित हुआ।"** श्रीरामकृष्ण की यह घोषणा कि 'ईश्वर को प्रतिक्षण देखना, अनुभव करना तथा उनसे वार्तालाप करना होगा', गाँधीजी द्वारा पालनीय निःसन्दिग्ध सत्य के रूप में स्वीकृत हुआ था और "अन्तरात्मा की आवाज सुने बिना उनका कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय नहीं लिया जाता था"।**

व्यावहारिक जीवन में गाँधीवादी दर्शन के सच्चे अनुयाई के रूप में सुपरिचित विनोबा भावे ने स्वामीजी पर अनेक महत्वपूर्ण प्रबन्ध लिखे। उनकी दृष्टि में श्रीरामकृष्ण और विवेकानन्द गुरु-शिष्य सम्बन्ध के महानतम आदर्श थे। प्रकाण्ड विद्वान तथा दार्शनिक साहित्य में पारंगत विनोबा इस युग में स्वामीजी को शंकराचार्य एवं वेदान्त पर महानतम अधिकारी पुरुष मानते थे। उनके मतानुसार

* Pyarelal, Mahatma Gandhi, Vol. I, Early Phase (1965), p.87

** Ibil., p.99

'दरिद्रनारायण का अद्वैत के साथ समन्वय' ही स्वामीजी का विशेष अवदान था। इस सन्दर्भ में उन्होंने ईसा मसीह के साथ स्वामीजी के आदर्श की तुलना की है। ईसा बाहर से द्वैतवादी होकर भी वस्तुतः अद्वैतवादी थे। "ईसा की भूमिका स्वाभाविक रूप से अद्वैत वेदान्त के काफी निकट है।... भारतीय वेदान्त के सन्दर्भ में विवेकानन्द ने अद्वैत तथा वेदान्त की एकता सम्पादित की। यह एक महान कार्य उन्होंने किया, जिसके फलस्वरूप भारत को एक ऐसा समन्वयात्मक दर्शन प्राप्त हुआ जिसमें अद्वैत ज्ञान का उपासना के विविध रूपों के साथ सुन्दर सामजस्य था।"*

पं. जवाहर लाल नेहरू ने भारतीय राजनीति में एक व्यापक तथा बहुमुखी भूमिका निभाई। उन्होंने एक ओर तो गाँधीजी के नेतृत्व में स्वाधीनता संग्राम में भाग लिया और दूसरी ओर वे सुभाषचन्द्र बोस के साथ मिलकर युवा आन्दोलन के पृष्ठपोषक बने। पूर्ण स्वाधीनता का आदर्श प्रचारित करने के लिए उन्होंने सुभाष बाबू के साथ मिलकर इंडियन इंडिपेंडेंस लीग की स्थापना की। वे भारत में समाजवाद के समर्थक थे। स्वाधीनता के पश्चात् उन्होंने प्रधानमंत्री के रूप में सत्रह वर्षों तक देश को चलाया। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में वे एक विशिष्ट व्यक्ति थे। यद्यपि धर्म के मामले में नेहरू (और साथ ही उनका परिवार भी) उत्साही न थे तथापि श्रीरामकृष्ण व स्वामीजी के प्रति उनका विशेष रुझान था और रामकृष्ण मिशन के बारे में वे काफी प्रशंसा का भाव रखते थे। अनेक अवसरों पर अपनी लेखनी तथा व्याख्यानों के द्वारा उन्होंने इन दो व्यक्तित्वों का सटीक विश्लेषण तथा उनकी

* Hindusthan Standard 17 January 1963

ऐतिहासक भूमिका का यथार्थ मूल्यांकन किया है। नेहरू की दृष्टि में "विवेकानन्द एक ओजस्वी व्यक्ति थे। उन्होंने जो कुछ भी कहा या लिखा, उसका प्रत्येक शब्द एक ज्वाला के समान था। जब हम इन्हें पढ़ते हैं तो वे हमें आलस्य से झकझोर कर उठा देते हैं, हममें अतीव प्रेरणा का संसार करते हैं।"* राष्ट्रीय संकट की एक गम्भीर घड़ी में भी नेहरू ने स्वामीजी का स्मरण किया। १९६२ ई. के चीनी आक्रमण के दौरान वे "युवकों के आदर्श के रूप में केवल एक व्यक्ति – विवेकानन्द – का नाम" ही ले सके, जो "उत्साह एवं शक्ति के साक्षात् प्रतिरूप थे।"* स्वामीजी को राष्ट्रीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में रखते हुए नेहरूजी ने लिखा, "वे राजनीतिज्ञ नहीं थे... तथापि वे आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन के महान संस्थापकों में से एक थे।"अपनी 'भारत की खोज' नामक पुस्तक में उन्होंने विस्तारपूर्वक स्वामीजी की राष्ट्रीय भूमिका का वर्णन किया। स्वामीजी के समतावादी विचारों में उन्होंने निम्नलिखित तत्त्वों का समावेश बताया – 'समानता व जन-उन्नयन', सामाजिक बहिष्कार, रूढ़िवाद तथा अस्पृश्यता की भर्त्सना, चमत्कार तथा रहस्यवाद पर कठोर प्रहार, त्याग एवं सेवा की प्रेरणा, निर्भयता पर निरन्तर जोर देना, अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण और 'जीवन की गतिशीलता' में उनका विश्वास। पं. नेहरू द्वारा स्वामीजी का मूल्याकन इन वाक्यों में सुन्दर ढंग से संक्षेपित हुआ है–

> *प्राचीनता में पगे और भारतीय परम्परा के गर्व से परिपूर्ण विवेकानन्द का जीवन की समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण अत्याधुनिक था। ..उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था,*

---

* Ibil, 4 February 1963

गम्भीरता व आत्मसम्मान उनमें भरा हुआ था, अपने तथा अपने कार्य के प्रति उनमें श्रद्धा थी और साथ ही वे क्रियाशीलता एवं अदम्य शक्ति से ओतप्रोत थे। भारत को आगे बढ़ाने की उनमें तीव्र उत्कण्ठा थी। हताश एवं निरुत्साहित हिन्दू मानस के लिए वे एक संजीवनी औषधि के रूप में आए और उसे आत्मनिर्भरता प्रदान की। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने वर्तमान भारत को गहराई से प्रभावित किया है।

स्वाधीनता आन्दोलन के मानसिक तथा आध्यात्मिक पक्ष पर स्वामीजी का प्रभाव न केवल गहरा था, अपितु किसी अन्य एक व्यक्ति के प्रभाव से बढ़कर भी था, क्योंकि उन्होंने राष्ट्रीय संघर्ष की – सशस्त्र तथा अहिंसावादी – दोनों ही धाराओं को प्रेरणा दी। साथ ही वे अपने परवर्ती काल में प्रारम्भ हुई क्रियाशीलता की सभी विधाओं को नवजीवन प्रदान करनेवाले मूलस्रोत्र बने रहे। यह बात डॉ राधाकृष्णन द्वारा निम्नलिखित शब्दों में भलीभाँति व्यक्त हुई है –

*वे इस देश के भावों की प्रतिमूर्ति थे। वे इसकी आध्यात्मिक स्पृहा तथा परिपूर्ति के प्रतीक थे। यही वह भाव है जो हमारे सन्त-कवियों के गीतों, ऋषियों के दर्शनों और जनसाधारण की प्रार्थनाओं के द्वारा अभिव्यक्त हुआ था। उन्होंने भारत के इस सनातन भाव को शब्द तथा वाणी प्रदान की।**

---

* Swami Vivekananda Centenary Memorial Volume, p.IX

युवा चेतना के प्रतीक स्वामी विवेकानन्द

स्वामी आत्मानन्द

युवा चेतना की यह विशेषता है कि वह उद्दाम होती है और कहीं हार मानना नहीं जानती। वह वेगवती पार्वत्य निर्झरणी के समान होती है, जो रास्ते की सारी बाधाओं को चूर-चूर कर अपना रास्ता बना लेती है। स्वामी विवेकानन्द जब तक अपने भौतिक शरीर में रहे, उन्होंने किसी बाधा को ऐसा नहीं माना कि वह लाँघी नहीं जा सके; उनके लिए कोई कठिनाई ऐसी नहीं थी, जो आसान न हो सके। उनके चालीस वर्ष के शरीर में भी युवा मन निवास करता था और वे अपने समय में भी युवा चेतना के प्रेरक-बिन्दु बने रहे तथा आज भी, अपने प्रयाण के नौ दशक बाद भी, तरुणाई के अजस्र प्रेरणा-स्रोत बने हुए हैं।

मुझे बचपन में, जब मैं मुश्किल से १३ वर्ष का रहा हूँगा, स्वामीजी का एक तिरंगा, बेहद सुन्दर छपा, पोस्टकार्ड आकार का चित्र देखने को मिला। यह वही फोटोग्राफ था, जो शिकागो में भरी विश्व-धर्म-महासभा के अवसर पर लिया गया था। स्वामीजी दोनों हाथ बाँधे खड़े हैं, सिर पर साफा शोभायमान है, नेत्र दीप्ति से भरे हैं। तभी तो योगी अरविन्द लिखते हैं—"यदि कभी कोई शौर्यपुरुष था, तो वह विवेकानन्द थे। वे पुरुषों में सिंह थे। हम उनके प्रभाव को अभी भी शक्तिशाली रूप से कार्य करते हुए पाते हैं – पता नहीं कैसे, कहाँ, ऐसे कुछ में, जो अभी रूपायित नहीं हुआ है।। वह सिंहसदृश, महाबली, अन्तःप्रज्ञ, उत्तोलक प्रभाव भारत की आत्मा में प्रविष्ट हो गया है और हम कहते हैं— देखो! मातृभूमि और उसकी सन्तानों की आत्मा में विवेकानन्द आज भी विद्यमान हैं। और इन विवेकानन्द की

तसवीर को देखने का मुझे सन् १९४२ में पहली बार सौभाग्य मिला। तसवीर के नीचे लिखा था – Old religions said he was an atheist who did not believe in God, new religion says he is an atheist who does not believe in himself— अर्थात् पुराने धर्म कहते हैं कि नास्तिक वह है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, नया धर्म कहता है कि नास्तिक वह है, जो अपने आपमें विश्वास नहीं करता। उनके इस वाक्य ने मेरी नसों में बिजली तड़का दी। वास्तव में, आत्मविश्वास ही तरुणाई का मूल मंत्र है, दृढ़ इच्छाशक्ति ही तरुणाई का प्रतीक है। वे आत्मविश्वास पर बल देते हुए कहते हैं— "विश्वास, विश्वास, अपने आप में विश्वास, ईश्वर में विश्वास – यही महानता का रहस्य है। यदि तुम पुराण के तैंतीस करोड़ देवताओं और विदेशियों द्वारा बतलाए हुए सब देवताओं में भी विश्वास करते हो, पर अपने आप में विश्वास नहीं करते, तो तुम्हारी मुक्ति नहीं हो सकती। अपने आप में विश्वास करो, उस पर स्थिर रहो और शक्तिशाली बनो।"

स्वामीजी तरुणाई के समक्ष दृढ इच्छाशक्ति का आदर्श रखते हुए सफलता पाने का सूत्र बतलाते हैं— "सफलता प्राप्त करने के लिए जबरदस्त इच्छा रखो। प्रयत्नशील आत्मा कहती है, 'मैं समुद्र पी जाऊँगा, मेरी इच्छा से पर्वत टुकड़े-टुकडे हो जाएँगे। इस प्रकार की शक्ति और इच्छा रखो, कड़ा परिश्रम करो, तुम अपने उद्देश्य को निश्चित पा जाओगे।" स्वामीजी के मतानुमार, यदि सभी क्षेत्रों में हमें अपने आप में विश्वास करना सिखाया जाता, तो हमारी बुराइयों तथा दुःखों का बहुत बड़ा भाग आज तक

मिट गया होता। वे तरुणों को संदेश देते हुए कहते हैं—"अपने स्नायु शक्तिशाली बनाओ। हम लोहे की मांसपेशियाँ और फौलाद के स्नायु चाहते हैं। ...सबसे पहले हमारे तरुणों को मजबूत बनना चाहिए, धर्म इसके बाद की वस्तु है। मेरे तरुण मित्रो, शक्तिशाली बनो, मेरी तुम्हें यही सलाह है। तुम गीता के अध्ययन की अपेक्षा फुटबाल के द्वारा ही स्वर्ग के अधिक समीप पहुँच सकोगे। ये कुछ कड़े शब्द हैं, पर मैं उन्हें कहना चाहता हूँ, क्योंकि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ। मैं जानता हूँ कि काँटा कहाँ चुभता है। मुझे इसका कुछ अनुभव है। तुम्हारे स्नायु और मासपेशियाँ अधिक मजबूत होने पर तुम गीता अधिक अच्छी तरह समझ सकोगे। तुम, अपने शरीर में शक्तिशाली रक्त प्रवाहित होने पर, श्रीकृष्ण के तेजस्वी गुणों और उनकी अपार शक्ति को अधिक समझ सकोगे। जब तुम्हारा शरीर मजबूती से तुम्हारे पैरों पर खडा रहेगा और तुम अपने को 'मनुष्य' अनुभव करोगे, तब तुम उपनिषद और आत्मा की महानता को अधिक अच्छा समझ सकोगे।"

स्वामी विवेकानन्द का संदेश प्रेम और सेवा का संदेश रहा है। वे उस धर्म और ईश्वर में विश्वास नहीं करते, जो विधवा के आँसू पोंछने या अनाथों को रोटी देने में असमर्थ है। और अपने इस संदेश के प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने तरुणों का ही मुँह जोहा और उन्हीं के नाम अपनी वसीयत कर गए। व्यक्ति तो अपनी संपत्ति की ही वसीयत करता है, पर विवेकानन्द तो सर्वत्यागी संन्यासी थे। उनके पास ऐसा क्या था, जिसे वे तरुणों को वसीयत में दे गए? यह हम उन्हीं के शब्दों में सुनें—"दुःखियों के दुःख का अनुभव करो और उनकी सहायता करने को आगे बढ़ो,

भगवान तुम्हें सफलता देंगे ही। मैंने अपने हृदय में इस भार को और मस्तिष्क में इस विचार को रखकर बारह वर्ष तक भ्रमण किया। मैं तथाकथित बड़े और धनवान व्यक्तियों के दरवाजों पर गया। वेदना-भरा हृदय लेकर और ससार का आधा भाग पार कर, सहायता प्राप्त करने के लिए मैं इस अमेरिका में आया। ईश्वर महान है। मैं जानता हूँ वह मेरी सहायता करेगा। मैं इस भूखण्ड में शीत या भूख से भले ही मर जाऊँ, पर हे तरुणो, मैं तुम्हारे लिए एक वसीयत छोड जाता हूँ; और वह है यह सहानुभूति – गरीबों, अज्ञानियों और दुखियों की सेवा के लिए प्राणपण से चेष्टा ।''

स्वामीजी यह अच्छी तरह समझते थे कि उनके संदेश का प्रचार और प्रसार युवा-शक्ति के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। वे स्वयं युवा थे, युवा चेतना के मूर्त विग्रह थे। अत: एक युवा की आशा-आकांक्षा उनकी हृदय-वीणा मे सतत झंकृत हुआ करती थी। वे जानते थे कि एक युवक या युवती का जीवन कैसे सार्थक और परिपूर्ण हो सकता है। अपने लिए तो सभी जीते हैं, पशु भी अपने लिए जीता है। अत: मनुष्य भी अपने लिए जिये तो फिर उसमें और पशु में क्या अंतर है? वे मनुष्य में मनुष्यता की मात्रा उस परिमाण में देखते हैं, जिस परिमाण में वह दूसरों के लिए जीता है। मैसूर के महाराजा के पत्र के उत्तर में उन्होंने लिखा था— ''मनुष्य अल्पायु है और ससार की सब वस्तुएँ वृथा तथा क्षणभंगुर हैं; पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं; शेष सब तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।'' तो, स्वामीजी ने दूसरों के लिए मर-खप जाने वाले ऐसे ही युवकों का मुँह जोहा था। उनकी दृष्टि में ऐसे ही लोग 'मनुष्य' कहलाने के अधिकारी थे। वे एक स्थान पर कहते

हैं— ' "मनुष्य' केवल 'मनुष्य' ही हमें चाहिए, फिर हर एक वस्तु हमें प्राप्त हो जाएगी। हमें चाहिए केवल दृढ़, तेजस्वी, आत्मविश्वासी तरुण – ठीक-ठीक सच्चे हृदय वाले युवक। यदि सौ भी ऐसे व्यक्ति हमें मिल जायँ, तो ससार आन्दोलित हो उठेगा – उसमें विशाल परिवर्तन हो जाएगा।"

स्वामी विवेकानन्द युवा चेतना की प्रखरता से परिचित थे, वे यह भी जानते थे कि इस चेतना की उद्दाम धारा को विशिष्ट राष्ट्रीय लक्ष्य की प्रप्ति के लिए मोड़कर ही देश को उठाया जा सकता है। वे देश के सम्पन्न लोगों को बतलाना चाहते थे कि वे कहाँ पर गलती कर बैठे हैं, जिसके फलस्वरूप हमारी मातृभूमि हर क्षेत्र में विदेशियों का मुँह जोह रही है। वे देश की तरुणाई को इस भूल के प्रति सचेत कर देना चाहते थे, जिससे वे ऐसी गलती न करें और सर्वहारा वर्ग की ओर उपेक्षा की दृष्टि से न देखें। उन्होंने तरुणों को पाठ पढाने के लिए अपनी अनुभूति उनके समक्ष रखी। उन्होंने निर्धन, पीडित, पददलित और शोषित को अपना विशेष उपास्य घोषित किया। उन्होंने इस हेतु अपनी मुक्ति को भी बन्धक रखने की घोषणा की और बारम्बार जन्म-मरण के चक्कर को स्वीकार करने की बात कही। वे बोले– "मैं पुनः पुनः जन्म धारणा करूँ और हजारों मुसीबतें सहता रहूँ, जिससे मैं उस परमात्मा को पूज सकूँ, जो सदा ही वर्तमान है, ...जो समस्त जीवों का समष्टिस्वरूप है और जो दुष्टों के रूप में, पीड़ितों के रूप में तथा सब जातियों एव सब वर्गों के गरीबों के रूप में प्रकट हुआ है। वही मेरा विशेष आराध्य है।"

उन्होंने भारत की युवा चेतना के समक्ष अपना हृदय

खोला और अपनी पीड़ा से उन्हें अवगत कराते हुए कहा— "जब तक (मेरे देश में) लाखों व्यक्ति भूखे और अज्ञानी हैं, तब तक मैं ऐसे हर व्यक्ति को गद्दार मानता हूँ, जो उनकी बदौलत शिक्षित बना, लेकिन आज उनकी ओर ध्यान तक नहीं देता। मैं उन मनुष्यों को हतभाग्य कहता हूँ, जो अपने ऐश्वर्य का वृथा गर्व करते हैं और जिन्होंने गरीबों को पीसकर धन-सम्पत्ति जोड़ी है, पर उन लोगों के लिए कुछ भी नहीं करते, जो भूखे जगली मनुष्यों की तरह जीवन बिता रहे हैं।"

यह थे विवेकानन्द, युवा चेतना के जाज्वल्यमान प्रतीक, तरुणाई के सजग प्रहरी, जिन्होंने भारत के तरुणों को सच्चे अर्थों में 'मनुष्य' के रूप में देखना चाहा था। उनके जीवन की सारी योजना ही भारत की तरुणाई में नवप्राण फूँकने की थी और इसके लिए उन्होंने अपना सब कुछ न्यौछावर कर दिया था।

साहसी बनो

बच्चो, याद रखना कि कायर तथा दुर्बल व्यक्ति ही पापाचरण करते हैं एव झूठ बोलते है। साहसी तथा शक्तिशाली लोग सदा ही नीतिपरायण होते है। नीतिपरायण, साहसी तथा महानुभूतिसम्पन्न बनने का प्रयास करो।

— स्वामी विवेकानन्द

राष्ट्रीय एकता और स्वामीजी

स्वामी सोमेश्वरानन्द

अलगाववाद वर्तमान भारत की एक ज्वलंत समस्या बन चुकी है। पंजाब की अकाली समस्या, आसाम तथा गोवा का भाषाई मुद्दा, काश्मीर में विशेष संवैधानिक अधिकार, झारखंड-गोरखालैंड-उदयाचल नाम से पृथक प्रदेशों की माँग, महाराष्ट्र तथा उत्तरप्रदेश में सांप्रदायिक दंगे, त्रिपुरा में आतकवादी आंदोलन— ये सभी देश की अखंडता को चुनौती दे रहे हैं। इन अलगाववादी ताकतों को रोकने के लिए केवल पुलिस तथा सेनाबल यथेष्ट नहीं हैं, हमें कुछ और भी करना होगा। अलगाववादी शक्तियों को नष्टकर समस्याओं के समाधान हेतु एक नवीन दृष्टिकोण की तीव्र आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में इन आन्दोलनों के कारण ढूँढने और एक अखण्ड भारत के अस्तित्व में स्वामी विवेकानन्द के विचार किस प्रकार सहायक हो सकते हैं, यही जानने का प्रयास किया गया है।

कुछ सामाजिक विचारक इन आन्दोलनों के मूल में आर्थिक कारण की ओर इगित करते हैं। पश्चिमी बंगाल के मार्क्सवादी मुख्यमंत्री यहाँ तक कहते हैं कि आर्थिक विकास देश में अलगाववादी शक्तियों के प्रसार को रोक सकता है।[1] यदि ऐसी ही बात है तो फिर पंजाब में, जहाँ आर्थिक विकास की दर सर्वोच्च है, अलगावादी आन्दोलन इतना प्रबल क्यों होता? उत्तर-पूर्वी राज्यों की प्रति व्यक्ति आय उत्तरप्रदेश तथा बिहार से अधिक है, तो भी वहाँ आतकवादी आन्दोलनों का सामना क्यों करना पड़ रहा है?

---

1. The Illustrated Weekly of India, Bombay, (22.6.86) p. 27

केरल में पेट्रो-डीलरों के प्राचुर्य के बावजूद क्यों श्री नम्बूदरीपाद ने वहाँ के सांप्रदायिक कट्टरतावाद की भर्त्सना की? औद्योगिक दृष्टि से अत्यन्त विकसित तथा समृद्ध दिल्ली, अहमदाबाद तथा बंबई में सांप्रदायिकतावाद क्यों सिर उठा रहा है? अतएव आर्थिक कारण इस समस्या की जड़ तक नहीं पहुँचता। संविधान का छठवाँ अनुच्छेद चूँकि अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के हितों की रक्षा करता है, आदिवासी तथा निम्न जातियों के लोग शिक्षा तथा नौकरियों में आरक्षण पाकर आज बेहतर स्थिति में हैं। काश्मीर, नागालैण्ड, मिजोरम तथा त्रिपुरा के निवासी इसके उदाहरण हैं। जो लोग खालिस्तान या उदयाचल की माँग कर रहे हैं, वे वस्तुतः शिक्षा तथा आजीविका की समस्या से पीड़ित नहीं हैं।

कुछ नेता अलगाववादी आन्दोलनों के उदय के पीछे राजनीतिक कारणों का उल्लेख करते हैं। उनके मतानुसार ये आन्दोलन केन्द्र तथा राज्यों के बीच असमानता पर आधारित संबंधों के फलस्वरूप हैं। इस समस्या का समाधान ढूँढने को सरकारिया आयोग गठित हुआ था। परतु मजे की बात यह है कि राज्यों के पिछड़े अंचल, यथा पश्चिमी बगाल तथा त्रिपुरा के, जो केंद्र के विरुद्ध सर्वाधिक वाचाल हैं, अपने राज्य सरकारों के विरुद्ध भी वे ही आरोप लगाते हैं। पश्चिमी बंगाल के नेपाली, त्रिपुरा के त्रिपुरी तथा मिजोरम के चकमा अपने-अपने राज्य सरकारों से उचित बरताव न पाने की शिकायत करते हैं।

मूल समस्या क्या है? इन आन्दोलनों से वस्तुतः क्या व्यक्त हो रहा है?

पहचान का संकट

भारतवर्ष एक ऐसा देश है जो विभिन्न प्रकार की भाषाओं, सम्प्रदायों, प्रजातियों तथा सांस्कृतिक विशेषता के लोगों से मिलकर बना है। अंग्रेजी शासन के दौरान इनमें से अधिकांश को विकसित होने का अवसर नहीं मिला। ये प्रायः एक-दूसरे से अलग-थलग रहे। ब्रिटिश शासनतंत्र तथा देशी राज्य व्यवस्था ने इन सामाजिक समुदायों के आपसी अलगाव को प्रोत्साहित किया। भारत की राजनीतिक स्वाधीनता के पश्चात् शिक्षा तथा अन्य सुविधाओं का दायरा बढ़ा और मतदान व्यवस्था ने राजनीतिज्ञों की दृष्टि में सभी लोगों का महत्व बढ़ा दिया। इस प्रकार जो समुदाय पहले दमित थे, अब अपनी-अपनी पहचान तथा महत्व का बोध करने लगे। उन्हें लगा कि राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से अब वे अलग-थलग नहीं रह सकते, केंद्रीय नीतियों ने उन्हें प्रभावित किया और अन्य राज्यों में हो रही घटनाओं का भी उन पर प्रभाव होने लगा। इसके पश्चात् समस्या आरभ हुई। उन्हें लगा कि विकास के लिए उन्हें मुख्यधारा से जुड़ना होगा, परतु उनकी अपनी पहचान क्या होगी? मात्र राजनीतिक पहचान पर्याप्त न था, इसके साथ ही वे अपनी सांस्कृतिक पहचान भी बनाए रखना चाहते थे। सास्कृतिक पहचान की यह तलाश ही अकालियों द्वारा धर्म के रूप में, उदयाचलियों द्वारा भाषा के रूप में और त्रिपुरियों द्वारा अपने जातिगत वैशिष्ट्यों के रूप में व्यक्त हो रही है।

चूँकि अधिकांश लोगों के लिए 'भारतीयता' की अवधारणा स्पष्ट नहीं है, वे समझ नहीं पाते कि अपनी निजी सांस्कृतिक विशेषताओं को बचाए रखकर देश की

सांस्कृतिक मुख्यधारा से कैसे जुडा जाय। आर्थिक तथा राजनीतिक मुखौटों के पीछे छिपी उनकी माँगें वस्तुत सांस्कृतिक हैं।

अपवादरूप भारतीय

अमेरिका, रूस आदि देशों में भी भारत के समान ही विभिन्न भाषायी तथा साप्रदायिक समुदायों का सम्मिश्रण करके एक ऐसी नई संस्कृति का निर्माण करने की समस्या उत्पन्न हुई थी, जो सबको स्वीकार्य हो। औद्योगीकरण अमेरिका के लिए सहायक सिद्ध हुआ। बडे स्तर पर औद्योगीकरण तथा नागरीकरण ने वहाँ के लोगों को बाध्य किया कि वे रक्त, धर्म तथा भाषा के अपने पुराने सबधों का परित्याग कर डालें। रूस का मामला कुछ अलग ही था। वहाँ राज्य की अखण्ड संरचना के अनुशासन ने लोगों को एकात्म होने तथा अपनी अलग अलग पहचानों को भुला देने को बाध्य किया। पाकिस्तान तथा श्रीलका ने अपने बहुसख्य धार्मिक समुदायों को अन्य समूहों पर अपनी प्रभुसत्ता जमाने की छूट देकर इस समस्या को हल कने का प्रयास किया।

परन्तु इनमें से कोई भी प्रणाली भारत के लिए कारगर नहीं हो सकती। जनतात्रिक राष्ट्र होने के कारण यह रूसी मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता और अमेरिका के समान यहाँ पर व्यापक रूप से औद्योगिकरण का भी विस्तार नहीं हुआ है। चूँकि भारत धर्मनिरपेक्ष तथा सघीय गणराज्य है, अत: यह पाकिस्तान या श्रीलका की भी नकल नहीं कर सकता। भारत को इस समस्या का समाधान एक भारतीय उपाय से ही करना होगा। भारत ने पहले भी कई बार – वैदिक काल में, महाभारत के युग में, मौर्य तथा गुप्त साम्राज्य के दिनों में, नानक-कबीर-चैतन्य के समय

और बाद में राममोहन राय तथा नारायण गुरु के काल में इस चुनौती का सामना करते हुए अपने निजी विशिष्ट मार्ग से इस समस्या का समाधान किया है।

अतएव हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि वर्तमान भारत की यह समस्या हल नहीं हो सकती। अतीत काल में भारत ने बड़ी कुशलता के साथ इस चुनौती का सामना किया है और अब पुन· वह इसका सामना और इस पर विजय प्राप्त करने जा रहा है।

श्रीकृष्ण ऐसे प्रथम भारतीय थे जिन्होंने अनुभव किया कि सास्कृतिक एकता के बिना राजनीतिक एकता को स्थिर बनाना सभव नहीं। महाभारत काल में अनेक धार्मिक, भाषिक तथा जातीय समुदाय एक-दूसरे के निकट आए। कुरुक्षेत्र युद्ध के पश्चात् उन्हें युधिष्टिर के अधीन एक अखण्ड राष्ट्र का निर्माण करना था और इसमें सास्कृतिक एकता की भूमिका महत्वपूर्ण थी। अत· हम गीता में देखते हैं कि श्रीकृष्ण ने सभी मतों को महत्व दिया और 'विभूतियोग' (१०वाँ अध्याय) में उन्होंने अर्जुन को दिखाया कि मूर्तियों, वृक्षों, पर्वतों, नदियों, सूर्य, चन्द्रमा आदि सबमें ईश्वर या सत्य विद्यमान है। (उन दिनों अनेक लोग वृक्षों, प्रस्तरों, नदियों आदि में ईश्वर की उपासना किया करते थे) और यद्यपि प्रथम अध्याय में अर्जुन ने वर्णसकरता का प्रश्न उठाया, परतु श्रीकृष्ण ने उसका उत्तर देने का कोई प्रयास नहीं किया, क्योंकि अर्जुन का प्रश्न ब्राह्मणी सस्कृति पर आधारित था, जबकि श्रीकृष्ण विभिन्न सास्कृतिक धाराओं के सामजस्य से उत्पन्न होने वाली एक नई सस्कृति के हामी थे। (वर्तमान भारत में भी हम श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द में वही प्रयास देख पाते हैं।) आदि शकराचार्य सम्भवत· ऐसे

प्रथम भारतीय थे, जिन्होंने भारत के चार छोरों पर चार मठों की स्थापना करके एक भौगोलिक भारत की धारणा प्रस्तुत की।

समाजशास्त्री राज्य संबंधी दो धारणाओं की चर्चा करते हैं। उनमें से एक राज्य की प्रभुसत्ता पर आधारित है जिसके अंतर्गत सभी व्यक्ति एक ही सरकार के अधीन राष्ट्र का गठन करते हैं। इसमें एक ही राज्य राष्ट्र का निर्माता है, जिसे 'राष्ट्र-राज्य सिद्धान्त' कहते हैं, यथा अमेरिका, बेल्जियम इत्यादि। दूसरा है 'राज्य-राष्ट्र सिद्धात' जिसके लोग एक राष्ट्र के माने जाते हैं और यह राष्ट्रीयता ही राज्य का आधार है, जैसा कि पाकिस्तान में, जहाँ कि मुसलमान एक जाति या राष्ट्र माने जाते हैं। स्वामीजी ने काफी काल पूर्व ही इन दो धारणाओं पर चर्चा की थी। उन्हीं के शब्दों में, "यूरोप में राजनीतिक विचार ही राष्ट्रीय एकता का कारण है, किन्तु एशिया में राष्ट्रीय ऐक्य का आधार धर्म ही है।"[२] उनकी यह बात आज भी प्रासगिक है। पूर्वी तथा पश्चिमी जर्मनी, फ्रास या ब्रिटेन की ओर हम देखें तो इस बात की सत्यता प्रमाणित होगी। और एशिया में— पाकिस्तान तथा बंगलादेश में इसलाम, श्रीलका तथा ब्रह्मा में बौद्ध धर्म और नेपाल में हिन्दू धर्म ने राज्य के निर्माण में प्रधान भूमिका निभाई है।

भारत का भविष्य और स्वामीजी

स्वामीजी जानते थे कि भारत स्वाधीन होगा और उसे इस समस्या का समाधान करना होगा। वे कहते हैं, "समस्या के दो पहलू हैं— जिन विविध तत्वों से राष्ट्र

२. विवेकानन्द साहित्य (कलकत्ता : अद्वैत आश्रम) खड ५, पृ १८०

निर्मित है, उनका न केवल आध्यात्मीकरण बल्कि उनको आत्मसात करना भी।"[३] "यहाँ तक कि राजनीति और समाजनीति के क्षेत्रों में भी जो समस्याएँ बीस वर्ष पहले केवल राष्ट्रीय थीं, इस समय उनमी मीमांसा केवल राष्ट्रीयता के आधार पर ही नहीं की जा सकती। उक्त समस्याएँ क्रमशः कठिन हो रही हैं और विशाल आकार धारण कर रही हैं। केवल अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर उदार दृष्टि से विचार करने पर ही उनको हल किया जा सकता है।"[४] और तदुपरान्त वे बताते हैं, "भविष्य में यह होने जा रहा है।... यहाँ उन समस्त जातियों का संचयन और केंद्रीकरण होने जा रहा है, जिनके विचारों और रक्त का सम्मिश्रण मन्द गति से, पर अनिवार्य रूप से होता आ रहा है; और मैं अपने मानस-चक्षुओं से उस भावी विराट पुरुष को धीरे-धीरे परिपक्व होता देख रहा हूँ— धरती के समस्त राष्ट्रों में कनिष्टतम, सर्वाधिक महिमामण्डित और ज्येष्ठतम भारत का भविष्य।"[५]

इस प्रकार स्वामीजी ने दोनों ही 'अन्तर्राष्ट्रीय आधारों' अर्थात राज्य-राष्ट्र और राष्ट्र-राज्य की धारणाओं पर बल दिया। विभिन्न विशेषताएँ रहें, परन्तु एक शक्तिशाली राज्य के लिए "जातियों के...रक्त तथा विचारों का सम्मिश्रण" आवश्यक है। स्वामीजी कहते हैं, "इसलिए सबसे बड़ी समस्या है, इन विविध तत्वों का, बिना उनका विशिष्ट व्यक्तित्व नष्ट किये हुए, समन्वय करना — उन्हें एक सूत्र में बाँध देना।"[६] ये तत्त्व क्या हैं? ये हैं— संस्कृति, भाषा, धर्म तथा जीवन-प्रणाली। उन्होंने नवीन भारत का

३. वही, खड ९, पृ ३०१
४. वही, खण्ड ५, पृ १३६
५. वही, खण्ड ९, पृ २९६
६. वही, खण्ड ९, पृ २९५

'कनिष्ठतम' और साथ ही साथ 'ज्येष्ठतम' कहकर उल्लेख किया। 'ज्येष्ठतम' इसलिए कि भारत चिर काल से ही इस चुनौती के साथ प्रयोग करता आया है। और वह 'कनिष्ठतम' इसलिए है कि वर्तमान युग में उसका प्रयोग अन्य देशों से बिल्कुल अलग, एकदम नये प्रकार का होने जा रहा है। अब भारत उस पुराने पथ का अनुसरण नहीं करेगा, जिसमें एक राष्ट्र राज्य को उत्पन्न करता है (जैसा कि पाकिस्तान, श्रीलंका या नेपाल में) और न ही वह भाषायी राज्यों के यूरोपीय पथ का अनुसरण करेगा।

उप-राष्ट्रीयतावाद

हम पहले ही कह आए हैं कि विभिन्न भाषायी, साम्प्रदायिक, आंचलिक तथा अन्य समुदाय अपनी अपनी अलग पहचान बनाए रखने का प्रयास कर रहे हैं और यह भारत में उप-राष्ट्रीयतावाद को बढ़ावा देता है। जब ये समुदाय मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असुरक्षा का अनुभव करने लगते हैं, तब वे पृथकतावादी शक्तियों में परिणत होकर मुख्यधारा के प्रति शत्रुता का भाव विकसित करने लगते हैं। परिणामस्वरूप इस सामुदायिक चेतना में छह लक्षण दीख पड़ते हैं[7]— (१) दीर्घकालिक समाधानों के स्थान पर यह तुरन्त लाभ में रुचि लेने लगती हैं। (२) यह अपने विरोधियों के मत सहन नहीं कर सकती। (४) यह अपने समूह के सदस्यों पर कठोर अनुशासन लाद देती है। (५) यह किसी परिवर्तन या नये प्रभाव को पसन्द नहीं करती। (६) इसकी दृष्टि में जगत् अव्यवस्थित प्रतीत होता है। अन्ततः यह अपनी सामूहिक एकरूपता में ही अपनी पहचान

7. Leonard Bloom, *The Social Pcychology of Race Relations* (Landon, 1971) pp. 61-63.

देख पाती है और इस कारण अपना सामूहिक या सांप्रदायिक दृष्टिकोण छोड़ना नहीं चाहती।

जब अल्पसख्यक समूह समाज में किसी प्रकार की असमानता का सामना करते हैं, तो वे स्वयं को असुरक्षित महसूस करते हैं और इसके फलस्वरूप आक्रामक होकर अपनी सामुदायिक पहचान पर बल देते हैं। ऊपरी तौर पर वे अपने लोगों की सम्पत्ति या भूमि के लिए लड़ते से प्रतीत होते हैं, परतु वस्तुतः वे अपनी पहचान के लिए लड़ते हैं। वे राष्ट्रीय नेताओं से निराश प्रतीत होते हैं और अपने निजी सामूहिक नेताओं को सामने रखते हैं। अकाली, झारखण्डी, केरलीय ईसाई तथा बिहारी मुसलमान यही चित्र प्रस्तुत करते हैं। यह भी एक रोचक तथ्य है कि विभिन्न प्रान्तीय तथा स्थानीय राजनीतिक दल दिन-पर-दिन मजबूत होते जा रहे हैं।

दूसरी तरफ एक बहुसख्यक समाज जब अनुभव करता है कि इसके प्रभाव या प्रभुत्व को चुनौती दी जा रही है, तो वह अस्थिर हो उठता है। यह चुनौती विभिन्न रूपों में प्रकट होकर विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर सकती हैं। उदाहरणार्थ यह चुनौती बहुसख्यक समुदाय की सख्या को लेकर हो सकती है जैसा कि मीनाक्षीपुरम में हरिजनों के धर्मान्तरण को लेकर तमिलनाडु के हिन्दुओं में तीव्र प्रतिक्रिया के रूप में व्यक्त हुई। आजीविका तथा शिक्षा-सुविधाओं की चुनौती ने महाराष्ट्र में शिवसेना, आसाम में AASU (ऑल आसाम स्टूडेन्ट यूनियन) तथा गुजरात में आरक्षण विरोधी आन्दोलन को जन्म दिया। सास्कृतिक पहचान की चुनौती ने मेघालय के खासियों को उभारा। ये सभी समुदाय अपने अपने प्रदेशों में बहुसख्यक

हैं, तथापि जैसे भी हो स्वयं को असुरक्षित महसूस करते हैं। बहुसंख्यक समुदाय सबके लिए समान कानून की माँग करता है और मुख्यधारा पर इसका जोर वस्तुतः मुख्य अंग के साथ बाकी सभी समूहों के आत्मसातीकरण की माँग है। बहुसंख्यक समुदाय एकात्मता पर जोर देता है, जबकि अल्पसंख्यक समुदाय बलपूर्वक विविधता से चिपके रहते हैं।

इस प्रकार चाहे बहुसंख्यक हो या अल्पसंख्यक, एक समुदाय उप-राष्ट्रीयतावाद उत्पन्न करता है। यह तीन प्रकार से कार्य करता है — (क) यह एक साप्रदायिक विचारधारा का निर्माण करता है, (ख) यह स्वयं को तथा अपने संगठन को सबल बनाता है और (ग) यह सामाजिक असमानता को अपने उत्कर्ष के लिए उपयोग में लाता है।

साम्प्रदायिक विचारधारा

साम्प्रदायिक विचारधारा से हमारा तात्पर्य केवल धर्म पर ही नहीं, अपितु भाषा, प्रान्त, प्रशासन, जनसख्या पर भी आधारित विचारधारा से है। साम्प्रदायिक विचारधारा के दो पक्ष हैं— पहला है, अन्य समुदायों के विरुद्ध भय की मनोविकृति फैलाना और दूसरा है, अपनी अतीत महिमा पर बल देना। एक साम्प्रदायिक समुदाय इन दोनों ही पक्षों पर राग अलापता है और इस प्रकार अपने लोगों को एकत्र तथा संगठित करता है। अपनी सामुदायिक चेतना को सबल बनाने के लिए वह एक 'जातीय मिथक' गढ़ता है। चार प्रणालियों से वह इस कार्य को सम्पन्न करता है— (१) यह इतिहास तथा नृतत्त्वविज्ञान को अपने पक्ष में मरोड़ता है (२) इस 'जातीय मिथक' के आधार पर वह अपने सदस्यों के लिए एक मूल्याकन प्रणाली की सृष्टि

करता है। (३) इस मूल्यांकन प्रणाली तथा मिथक पर कोई प्रश्न उठाना वह पाप मानता है। (४) इस मिथ्या चेतना के आधार पर वह कुछ सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा आर्थिक योजनाएँ प्रारंभ करता है।

भय की मनोवक्रिति तथा अतीत महिमा पर बल, उपरोक्त चार प्रणालियों से पुष्ट होकर उक्त समुदाय के लोगों को गहराई से जोड़ देते हैं। नेतागण एक संगठन बनाकर इस समुदाय पर अपना वर्चस्व बनाए रखने का प्रयास करते हैं। थोपी गई इस मूल्यांकन प्रणाली पर प्रश्न उठाना तथा संगठन के विरुद्ध जाना पाप माना जाता है और विद्रोहियों के साथ कठोरता से निपटा जाता है।

व्यापक रूप से फैली सामाजिक असमानता तथा अन्याय से यद्यपि सभी समुदाय पीड़ित होते हैं, परंतु सांप्रदायिक समुदाय अपने स्वार्थसाधन के लिए इसका उपयोग करते हैं। वे इस समस्या को ऐसे ढंग से प्रस्तुत करते हैं मानो केवल उन्हीं के लोग इनसे प्रभावित हों। इस प्रकार विद्यमान प्रतिकूल परिस्थितियों का वे अपने पक्ष में लाभ उठाते हैं और अपने लोगों के मन में भय तथा असुरक्षा का भाव उत्पन्न कर उन्हें सगठित करने में इसका उपयोग करते हैं।

स्वामीजी का समाधान

राजनीतिक स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद भारत को जिस समस्या का सामना करना था, स्वामीजी ने उसे पहले ही समझ लिया था। 'कोलम्बो से अल्मोड़ा' तक दिए गए अपनी भारतीय व्याख्यानों तथा लेखों में उन्होंने इन विघटनकारी शक्तियों के स्वरूप पर चर्चा की और भारतवासियों से उन्होंने कहा कि वे इनसे संघर्ष कर एक

नवीन भारत गढ़ें। उन्होंने चार कार्यकारी सिद्धांतों का निर्देश किया— (१) वैचारिक संघर्ष, (२) एकता के नींव की स्थापना, (३) सामाजिक भेदभाव का उन्मूलन और (४) एक राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा की सृष्टि।

वैचारिक संघर्ष

हमने देखा कि एक साम्प्रदायिक समुदाय अपनी साम्प्रदायिक विचारधारा के लिए एक, 'जातीय मिथक' का निर्माण करता है। स्वामीजी ने भारत में प्रचलित जाति-धर्म -भाषा पर आधारित सभी प्रकार के जातीय मिथकों पर प्रहार किया। "हम...लोग सभी संभव अर्थों में एक संकर जाति है।"[८] बताते हुए उन्होंने हमसे समस्त जातीय मिथकों में संशोधन कर लेने को कहा। जाति प्रथा पर आक्रमण करते हुए उन्होंने लिखा, "भारत में किसी भी जाति की बलात् अधिकृत जन्मजात श्रेष्ठता कोरी कपोलकथा मात्र है।"[९] और तदुपरान्त, "हमें वेदों के अपने संस्कृतभाषी पूर्वजों पर गर्व है; हमें अपने तमिलभाषी पूर्वजों पर अभिमान है, जिनकी सभ्यता ज्ञात सभ्यताओं में सबसे प्राचीन है; हमें अपने कोलारी पूर्वजों पर गर्व है, जो इन दोनों से ही प्राचीन थे और जो जंगलों में रहते तथा आखेट करते थे; हमें अपने उन पूर्वजों पर अभिमान है, जो पत्थर के आयुध उपयोग में लाते थे और मानवजाति के आदि पुरुष थे।"[१०] एक सच्चे नृतत्त्वशास्त्री के रूप में स्वामीजी ने भारतवासियों को इस विषय में सावधान करते हुए कहा कि हम लोग एक मिश्रित जाति हैं और यही हमारी सच्ची

---

८. विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ९, पृ. २८३ ९. वही, पृ २८४
१०. वही, पृ. २८७

पहचान है। 'शुद्ध रक्त' 'आर्य रक्त' या 'ब्राह्मण रक्त' की बातें सरासर झूठ हैं। यह अविज्ञानसम्मत है। सच तो यह है कि एक ब्राह्मण हिन्दू तथा एक शुद्र हिन्दू के बीच नृतत्त्वशास्त्र की दृष्टि से कोई भेद नहीं, अधिकांश मुसलमानों में अरबी रक्त नहीं है और न ही भारतीय ईसाई यूरोपवासियों के वंशज हैं।

भारत का कोई भी समुदाय अपनी संस्कृति को सर्वोच्च तथा दूसरों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक कहकर दावा नहीं कर सकता। इसी पत्रिका में प्रकाशित एक लेख[११] में चर्चा की गई थी कि कैसे भारतीय संस्कृति एक सुसंघटित समन्वित इकाई है, जो कुछ भी छोड़ता नहीं, बल्कि सब कुछ अगीकार करता है। लोक-तत्त्वों, वैदिक-द्रविड़-आस्ट्रिक-मंगोलाइड सांस्कृतिक विशेषताओं, मुसलमानो और ईसाइयों— सबने हमारी भारतीय संस्कृति को समृद्ध बनाने में योगदान किया है। इसका अनुभव किए बिना भारतीयता का अर्थ नही समझा जा सकता। स्वामीजी ने कहा था, "भारत के भाग्य का निपटारा उसी दिन हो चुका, जब उसने इस म्लेच्छ शब्द का आविष्कार किया और दूसरों से अपना नाता तोड़ लिया।"[१२]

इस प्रकार स्वामीजी ने जोर देकर कहा कि एकता मात्र भावुकता पर नहीं, अपितु भारतीय इतिहास के वास्तविक ज्ञान पर आधारित हो। उन्हीं के शब्दों में, "...जहाँ केवल कुछ पुस्तकों को कण्ठस्थ कर लेना ही विद्या है, दूसरों के विचारों को दुहराना ही प्रतिभा है और इन

११. 'The Swan's Wide Waters' by Swami Someswarananda (*Vadanta Kesari*, March 1987)
१२ विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ३, पृ ३२४

सबसे बढ़कर केवल पूर्वजों के नाम-कीर्तन में ही जिसकी महत्ता रहती है, वह देश दिन पर दिन तमोगुण में डूब रहा है, यह सिद्ध करने के लिए हमको क्या और प्रमाण चाहिए! ... इसलिए हमको अपने घर की सम्पत्ति सर्वदा सम्मुख रखनी होगी, जिससे जनसाधारण तक अपने पैतृक धन को सदा देख और जान सकें, हमको ऐसा प्रयत्न करना होगा और इसी के साथ साथ बाहर से प्रकाश प्राप्त करने के लिए हमको निर्भीक होकर अपने घर के सब दरवाजे खोल देने होंगे।"[१३] स्वामीजी हमें साम्प्रदायिक विचारधारा के साथ संघर्ष करने तथा इसके विपक्ष में ऐतिहासिक साक्ष्यों पर बल देने को कहते हैं।

एकता की नींव

भारत में दृश्यमान सतही विविधता के पीछे एक अन्तर्निहित एकता विद्यमान है। स्वामीजी जानते थे कि एकरूपता के द्वारा वास्तविक एकता की उपलब्धि नही हो सकती। विभिन्न सांस्कृतिक धाराएँ रहें, परंतु प्रत्येक संस्कृति का तत्त्व भारतीय हो और रूप स्थानीय हो। हमें विभिन्न अंचलों की सांस्कृतिक धाराओं के माध्यम से विविध रूपों में अभिव्यक्त होनेवाली भारतीय संस्कृति की मुख्य प्रवृत्तियों को ढूँढना होगा।

भारत एक बहुभाषी देश है, परतु इसकी अधिकाश मुख्य भाषाओं का एक सामान्य उद्गम है और वह है संस्कृत। अधिकाश भारतीय भाषाओं पर सस्कृत का प्रभाव बिल्कुल स्पष्ट है। कुछ लोग यह तर्क दे सकते हैं कि यदि संस्कृत को महत्व दिया जाय तो सभव है मुसलमान इसका

१३. वही, खण्ड १०, पृ. १३६-३७

विरोध करें। परंतु प्रश्न उठता है कि क्या हिन्दी के बिना उर्दू खड़ा रह सकता है? और क्या हिन्दी (जो वस्तुतः भारतीय आर्यभाषा समूह की एक शाखा है) संस्कृत से ही काफी प्रभावित नहीं है? यहाँ तक कि बंगला भी, जो मूलतः एक आस्ट्रिक भाषा है, संस्कृत से काफी प्रभावित है। यही बात तेलुगु और मलयालम के साथ भी है। अतः संस्कृत एक मातृभाषा के समान है। बाकी भाषाओं को मुक्त रूप से विकसित होने से कोई नहीं रोकता। यदि कोई भाषा दूसरों से पिछडती है, तो इसके लिए वस्तुतः उस भाषा के बोलनेवाले ही जिम्मेदार हैं। भाषा की अन्धभक्ति मूर्खतापूर्ण है। बंगला भाषा के साठ प्रतिशत शब्द अन्य भाषाओं से गृहीत हैं, तथापि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने नोबल पुरस्कार प्राप्त किया।

आइए अब हम धार्मिक एकता की बात लें। स्वामीजी ने ऐसे पाँच तत्त्व बताए, जिनके आधार पर विभिन्न धर्म एक-दूसरे के निकट आ सकते हैं— (१) परम सत्य एक है, परंतु यह विभिन्न रूपों में व्यक्त होता है।[१४] (२) पवित्रता और निःस्वार्थता ही धार्मिक जीवन के आधार हैं।[१५] (३) अन्य धर्मों के प्रति एक उदारवादी दृष्टिकोण का पोषण किया जाय।[१६] (४) धर्म में चिन्तन तथा अभिव्यक्ति की स्वाधीनता हो।[१७] (५) लक्ष्य है बाह्य तथा अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के ब्रह्मभाव को अभिव्यक्त करना मुक्त हो जाना। यही धर्म का सर्वस्व है। मतवाद, अनुष्ठान-पद्धति, शास्त्र, मन्दिर अथवा अन्य बाह्य क्रियाएँ

१४ विवेकानन्द साहित्य, खण्ड १, पृ ४   १५. वही, पृ ३७९

१६ वही, खण्ड १, पृ २७   १७. वही, खड २, पृ ३३१

तो उसके गौण ब्यौरे मात्र हैं।[१८] यदि सभी धर्म इन सिद्धातों पर एकमत हो जायें, तो फिर एक राष्ट्र का बहुधर्मी स्वरूप कोई समस्या की सृष्टि नहीं करेगा। यहाँ तक कि एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र को भी इन सिद्धांतों पर कोई आपत्ति न होगी। इस प्रकार हम धर्मनिरपेक्षता के विवाद से मुक्त हो सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामीजी हमें बहु-सांस्कृतिक बहु-भाषिक, बहु-धार्मिक तथा बहुजातिक समस्याओं का समाधान करने के सूत्र दे गए हैं।

सामाजिक भेद का उन्मूलन

हमने देखा कि किस प्रकार विभिन्न समुदाय सामाजिक असमानता का लाभ उठाने का प्रयास करते हैं। गोरखालैंड के नेता अपने विकास के लिए एक पृथक राज्य की माँग करते समय यह भूल जाते हैं कि बगाल के पुरुलिया, बाँकुडा आदि दक्षिणी जिलों की समस्याएँ भी उत्तरी जिलों से भिन्न नहीं हैं। कुछ मुस्लिम नेता यह भूल जाते हैं कि धर्मनिरपेक्ष भारत में धर्म के आधार पर सीटों के आरक्षण को बढावा नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त अल्पसख्यक धार्मिक समुदाय पहले से ही विशेषाधिकारों का लाभ उठा रहे हैं।

गुजरात में आरक्षण-विरोधी आन्दोलन हुआ था। स्वामीजी ने स्वयं भी कहा था कि पिछडे लोगों को विशेषाधिकार देना होगा। उन्हीं के शब्दों में, "यह वैषम्य ही मानव प्रकृति की घोर दुर्बलता है, मनुष्य जाति के ऊपर

१८. वही, खड १, पृ ३४

अभिशाप स्वरूप है तथा समस्त दु:ख-कष्टों का मूल है।"[१९] "यदि स्वभाव में समता न भी हो, तो भी सबको समान सुविधा मिलनी चाहिए। फिर भी यदि किसी को अधिक तथा किसी को कम सुविधा देनी हो, तो बलवान की अपेक्षा दुर्बल को अधिक सुविधा प्रदान करना आवश्यक है।"[२०] और इसके साथ ही उन्होंने पिछड़े लोगों को भी चेताया, "तुम अपने दोष से कष्ट पा रहे हो।"[२१] "भीख माँगने से कभी किसी को कुछ नहीं मिला। मिलता हमें वही है, जिसके हम पात्र होते हैं।"[२२] विशेष संवैधानिक अधिकारों का लाभ पा रहे पिछड़े समुदाय यदि स्वामीजी के शब्दों पर ध्यान नहीं देते, तो नव-ब्राह्मणवाद का उदय निश्चित है और भारत के उत्तर-पूर्वी राज्यों में यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है। वे लोग अपने जनजाति होने की दुहाई देकर विशेषाधिकारों की माँग करते हैं। परंतु उन्हें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि कोई भी समुदाय अधिक काल तक कबीले के स्तर पर नहीं रह सकता, क्योंकि समाजशास्त्रियों के मतानुसार 'कबीला' मानवीय विकास का एक चरण मात्र है। अंग्रेज, बंगाली तथा अन्य समूह कभी कबीले हुआ करते थे, परंतु ज्यों-ज्यों उनका विकास होता गया, वे अपनी जनजातीय पहचान त्यागते गए। द्वितीयत: जब आदिवासी नेता अपने इलाके से बाहर से आए लोगों को विस्थापित करने के लिए आन्दोलन छेड़ते हैं, तब उन्हें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि आदिवासी लोगों की सहायता के लिए सरकार मुख्यत: उन्हीं से राजस्व एकत्र करती है। बाहरी लोगों की सहायता के बिना आदिवासियों का विकास

१९. वही, खंड ९, पृ ३५७
२०. वही, खंड ४, पृ ३०९
२१ वही, खंड ५, पृ १९१
२२ वही, खंड ९, पृ २८५

असंभव है। तृतीयत: जब तक सत्तानशीन मुख्य अल्पसख्यक वर्ग द्वारा लघुत्तर अल्पसंख्यक समुदायों (यथा मिजोरम में चकमा और मेघालय में हेजांग तथा बोनाइस) को उनका न्यायोचित हिस्सा नहीं मिलता, तब तक सम्पत्ति कुटिल नेताओं की जेबें ही भरती रहेंगी। स्वामीजी की यह आशका सत्य थी कि स्वाधीन भारत में आम जनता को सत्ता में भागीदारी से कहीं वंचित न कर दिया जाये। उन्हीं के शब्दों में, "स्वाधीनता पाने का अधिकार उसे नहीं, जो औरों को स्वाधीनता देने को तैयार न हो। मान लो अग्रेजों ने तुम्हें सब अधिकार दे दिये, पर उससे क्या फल होगा? कोई न कोई वर्ग प्रबल होकर सब लोगों से सारे अधिकार छीन लेगा और उन लोगों को दबाने की कोशिश करेगा। और गुलाम तो शक्ति चाहता है, दूसरों को गुलाम बनाने के लिए।"[२३]

आर्थिक सहायता जाति धर्म से निरपेक्ष भाव से उन लोगों को दी जानी चाहिए जो आर्थिक दृष्टि से विपन्न हैं। यदि सरकार जातिवाद को निन्दनीय मानती है, तो फिर क्यों वह अनुसूचित जातियों की धारणा प्रारभ करती है? जाति-धर्म-निरपेक्ष भाव से निर्धनों को विशेषाधिकार मिलना चाहिए। यदि उच्चतर जातियों के युवक अपनी बेहतर योग्यता के बावजूद शिक्षा या आजीविका के अवसर नहीं पाते, तो 'आरक्षण-विरोधी आदोलन' ही इसके स्वाभाविक परिणाम होंगे। अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के कल्याण हेतु प्रस्तुत मडल कमीशन की रिपोर्ट में अनेक खामियाँ हैं।[२४]

२३ वही, खड ३, पृ. ३३४

२४. देखिए "मण्डल कमीशन और स्वामीजी के विचार" (बंगला में), स्वामी सोमेश्वरानद (विश्ववाणी मासिक, कलकत्ता नवम्बर दिसम्बर १९८५)

आज बड़ी जरूरत है कि आर्थिक नियोजन तथा आर्थिक असमानता के उन्मूलन पर स्वामीजी के विचारों का गहराई से अध्ययन किया जाय।[२५]

एक राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा का प्रचार

यदि मनुष्य में महात्वाकाक्षा न हो, तो उसका जीवन जड़ हो जाता है, इसी प्रकार एक राष्ट्रीय महत्वाकाक्षा के बिना एक राष्ट्र भी फल-फूल नहीं सकता। यह 'महत्वाकांक्षा' एक सरकारी नीति के रूप में हो ऐसा आवश्यक नहीं, बल्कि इसे देश के नागरिकों के हृदय में गहराई से जडीभूत आकाक्षा के रूप में होना चाहिए। रूस तथा चीन में हुई क्रातियों के पीछे 'सम्पूर्ण विश्व में समाजवाद की स्थापना और उत्पादन में अमरिका आदि पूँजीवादी देशों को पीछे छोड जाने' की एक राष्ट्रीय महत्वाकाक्षा थी। इस राष्ट्रीय महत्वाकाक्षा से उत्पन्न शक्ति ने विपुल सहायता पहुँचाई, पर साथ ही इसने उन्हें नव-साम्राज्यवादी भी बना दिया।

स्वामीजी ने भारतवासियों को एक नवीन महत्वाकाक्षा प्रदान की है— अपने अतीत के गौरव को लाँघ जाना और एक नये, आधुनिक तथापि महत्तर भारत का निर्माण करना। वे कहते हैं, "उत्तम वस्तुओं की रक्षा करनी होगी, किंतु प्राचीन भारत से भावी भारत अधिक महत्वपूर्ण होगा।"[२६] कला, साहित्य, विज्ञान, व्यापार तथा दर्शन के

२५. देखिए "वर्तमान भारत, आर्थिक नियोजन और स्वामीजी के विचार" (बँगला मे), स्वामी सोमेश्वरानद (समाजशिक्षा मासिक, नरेन्द्रपुर, जनवरी-जून १९८५)

२६ विवेकानन्द साहित्य, खण्ड ८, पृ ३०९

क्षेत्र में प्राचीन भारत अन्य देशों के बीच अग्रणी था। स्वामीजी ने स्वदेशवासियों को एक ऐसे भारत का निर्माण करने के लिए आह्वान किया, जो हर दृष्टि से अपनी प्राचीन महिमा को लाँघ जाय।

"अबकी बार केन्द्र है भारतवर्ष।"[२७] "...हमें सम्पूर्ण संसार को जीतना है। हाँ, हमें यह करना ही होगा। भारत को अवश्य ही ससार पर विजय प्राप्त करनी है। इसकी अपेक्षा किसी छोटे आदर्श से मुझे कभी भी सन्तोष न होगा।"[२८] इसे कैसे सम्पन्न किया जा सकता है? आध्यात्मिकता और भौतिक समृद्धि का सम्मिलन करा कर।[२९]

भारतवासियों के हृदय में एक राष्ट्रीय महत्वाकाक्षा को दृढमूल कर देना होगा। हमें प्राचीन भारत की महिमा को पीछे छोड़ जाना होगा, हमें ससार को यह दिखाना होगा कि भौतिक समृद्धि तथा आध्यात्मिकता को कैसे जोडा जाय ताकि सभी लोग एक सन्तुलित जीवन बिता सकें। स्वामीजी का 'व्यावहारिक वेदान्त' का सन्देश हमारे इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होगा।

(अंग्रेजी मासिक 'वेदान्त केसरी' के १९८७ के वार्षिकाक से गृहीत एव अनुदित)

---

२७. वही, खड १०, पृ १३४ २८. वही, खड ५, पृ २०९-१०
२९. वही, खड १०, पृ १३४-३६

स्वामीजी का व्यावहारिक जीवन-दर्शन (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

स्वामीजी ने कहा है—"भारत में दर्शन का तात्पर्य है, जिसके द्वारा ईश्वर का दर्शन किया जाय, वह (दर्शन) धर्म का तात्विक आधार है।"

हम जानें या न जानें हमारा जीवन कुछ ज्ञात, अज्ञात बद्धमूल धारणाओं द्वारा सचालित होता है। ये धारणाएँ असस्कृत, रूढ, अयौक्तिक भी हो सकती हैं; या संस्कृत, सुष्ठ, सुचिंतित तर्कपूर्ण भी हो सकती हैं। इन धारणाओं के शुद्ध, सुष्ट, सस्कृत होने पर हमारा जीवन भी शुद्ध, सुष्ट तथा संस्कृत होता है और यदि हमारी धारणाएँ असंस्कृत, अयौक्तिक तथा अशुद्ध हुई तो हमारा जीवन भी उसी प्रकार असंस्कृत, अयौक्तिक तथा अशुद्ध हो जाता है।

हमारे विचारों और धारणाओं का हमारे जीवन पर गहरा प्रभाव पडता है। जीव, जगत. जीवन का उद्देश्य, मनुष्य का भविष्य, जन्म, मृत्यु आदि के संबंध में हमारे विचार, हमारी धारणाएँ, हमारे व्यावहारिक जीवन को बहुत अधिक प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति ऐसा मानता है कि "मेरे जीवन का कोई दर्शन नहीं है। मैं किसी दर्शन में विश्वास नहीं करता हूँ।" किसी दर्शन में विश्वास न होना, जीवन का कोई दर्शन नहीं होना यही उस व्यक्ति का जीवन दर्शन है, इस जीवन दर्शन के प्रभाव से उस व्यक्ति का जीवन प्रायः उद्देश्यहीन, उथला और हल्का हो जाता है। ऐसे व्यक्ति के जीवन में कोई गभीरता और उच्चता नहीं होती। क्योंकि जीवन की गभीरता और उच्चता, उच्च एव गभीर जीवन दर्शन पर ही निर्भर करती है।

जीवन दर्शन जितनी अधिक मात्रा में सत्य पर

प्रतिष्ठित होगा, जितना उच्च एवं सुलझा हुआ होगा, अल्प शब्दों में दर्शन जितना सम्यक् तथा उन्नत होगा, जीवन भी उतना ही सम्यक् तथा उन्नत होगा। महर्षि मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि बंधन या मुक्ति सम्यक् या असम्यक् दर्शन पर निर्भर करता है।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते।। मनुस्मृति ६/७४

—"सम्यक्-दर्शन-संपन्न व्यक्ति कर्म बन्धन में नहीं बँधता तथा दर्शन-विहीन व्यक्ति संसार में फँस जाता है।"

अनुभूति दर्शन का आधार तथा कसौटी है। आध्यात्मिक अनुभूति संपन्न व्यक्ति जब अपनी अनुभूतियों को तर्कयुक्त ढंग से हमारे सामने रखते हैं, तथा हमें भी उन अनुभूतियों को प्राप्त करने का मार्ग बताते हैं तब वह हमारे लिए एक व्यावहारिक जीवन दर्शन हो जाता है। उस दर्शन के अनुसार यथावत उपयुक्त साधना करने पर हम भी उन आध्यात्मिक तत्त्वों की अनुभूति कर सकते हैं जिनका अनुभव उस दर्शन के प्रणेताओं ने किया था। यही दर्शन की व्यावहारिकता है।

दर्शन का क्षेत्र यद्यपि सर्वव्यापी है, तथापि वह जीवन और जगत् संबंधी कुछ मौलिक तथ्यों पर सर्वप्रथम विचार करता है। विवेचन की सुविधा के लिए हम इन मौलिक तत्त्वों को चार भागों में बाँट सकते हैं।

१. जीव — विशेषकर मनुष्य जीवन
२. जगत् — चराचर विश्व ब्रह्माण्ड
३. ईश्वर — जगत् कारण
४. मनुष्य (जीव) का भविष्य

इन चार तत्त्वों के संबध में हमारी धारणा क्या है?

हमारी मान्यताएँ क्या हैं? इसी बात पर हमारा जीवन दर्शन निर्भर करता है।

जीवन तथा जगत् संबंधी इन मौलिक तत्त्वों पर अपने गहन अध्ययन तथा उच्च आध्यात्मिक अनुभूति के आधार पर स्वामी विवेकानन्दजी ने हमें एक सर्वांगीण पूर्ण व्यावहारिक जीवन-दर्शन दिया है। इस दर्शन का सम्यक् आचरण कर कोई भी व्यक्ति अपने जीवन में उन आध्यात्मिक अनुभवों को प्रत्यक्ष कर सकता है जिनका प्रतिपादन स्वामीजी ने अपने दर्शन में किया है।

यहाँ हमें एक बात विशेष रूप से स्मरण रखनी होगी कि स्वामीजी को यह जीवन-दर्शन अपने गुरु श्रीरामकृष्णदेव से मिला था। भगवान श्रीरामकृष्ण स्वामीजी द्वारा प्रतिपादित जीवन दर्शन के मूर्त विग्रह थे। रामकृष्ण-विवेकानन्द जीवन दर्शन के मनीषी अध्येयताओं ने ठीक ही कहा है कि श्रीरामकृष्ण मानो इस महान जीवन-दर्शन के सूत्र हैं तथा स्वामी विवेकानन्द उन सूत्रों के भाष्य हैं।

मनुष्य

संसार में जितने भी सभ्य एवं उन्नत समाज हुए हैं, जितनी भी सभ्य तथा उन्नत जातियाँ हुई हैं, तथा जिनके वंशधर आज भी जीवित हैं; जिनकी सभ्यता और संस्कृति का आभास आज भी उनके वशधरों में मिलता है, उन सभी जातियों का एक जीवन-दर्शन रहा है। मनुष्य जीवन का एक 'प्रयोजन' उन जातियों के दर्शनों ने उन्हें दिया है। भारत और चीन जैसे देश तथा चिरंजीवी हिन्दू और चीनी समाज इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। इन दोनों देशों के महापुरुषों ने धर्म के रूप में अपने देशवासियों को एक ऐसा जीवन-दर्शन

दिया था जिसमें विभिन्न रूपों में मनुष्य की महानना तथा उसके अमरत्व की धारणा निहित थी। किन्तु इतना होने हुए भी समय-समय पर इन देशों में भी ऐसे लोग हुए तथा आज भी हैं जिन्होंने मनुष्य के उस दिव्य रूप की अवहेलना ही नहीं की वरन् उसे मिथ्या बताकर मनुष्य को केवल एक भौतिक पदार्थ ही माना। प्राचीन भारत में चार्वाक तथा आधुनिक चीन में माओवादी साम्यवादी इसके उदाहरण हैं।

मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह असीम आनन्द, असीम ज्ञान तथा अमरत्व चाहता है। इसी प्रयास में वह संसार के नाना प्रकार के भोगों को भोगना चाहता है तथा विविध उपलब्धियों के पीछे भागता फिरता है। जब तक उसका शरीर और मन स्वस्थ और समर्थ रहता है तथा परिस्थितियाँ कम-अधिक मात्रा में अनुकूल रहती हैं तब तक वह तात्कालिक सुख तथा आपात उपलब्धियों में भूला रहता है; उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि यह सब सुख और उपलब्धियाँ स्थायी नहीं हैं, अनत नही हैं। किन्तु ससार में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जिसके जीवन में कभी प्रतिकूलता न आये जिसे कभी असफलता का सामना न करना पड़े, जिसे कभी किसी आत्मीय के विछोह की मृत्यु का दारुण दुख न भोगना पडे। जीवन सग्राम के कोलाहल में कुछ समय के लिए व्यक्ति भले ही भूला रहे किन्तु जब कभी हमारे किसी स्वजन-सबधी की मृत्यु होती है या हमारे हृदय में चिरपोषित कोई स्वप्न अकस्मात् भग हो जाना है तब हमारे मन में थोड़ी ही देर के लिए क्यों न हो, यह प्रश्न उठता है—क्या मृत्यु के साथ सभी समाप्त हो जाता है? सब कुछ मिट जाता है? मृत्यु के पश्चात् क्या होना है? देह

के नष्ट हो जाने के पश्चात् भी क्या कुछ ऐसा रह जाता है जिसका विनाश नहीं होता? जो मृत्यु के अधीन नहीं है?

अनादिकाल से ये प्रश्न मनुष्य के मन में उठते रहे हैं; उसके मन को मथते रहे हैं। विभिन्न देश कालों में इनके भिन्न-भिन्न उत्तर दिये जाते रहे हैं। इन उत्तरों के आधार पर जीवन-दर्शन बने तथा उन दर्शनों पर समाज की रचना हुई।

स्वामीजी ने अपने समय के पूर्वीय तथा पश्चिमी जीवन-दर्शनों का गहन अध्ययन किया था। उन्होंने उस पर चिन्तन तथा मनन किया और तब उन्होंने इन मौलिक प्रश्नों के दो सभावित उत्तरों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया। वे कहते हैं, "उपर्युक्त प्रश्न के दो उत्तर हैं। एक है शून्यवादियों की भाँति विश्वास करना कि सब कुछ शून्य है, हम कुछ भी नही जान सकते — भूत, भविष्य या वर्तमान के सबध में कुछ भी नहीं जान सकते। ...यह तो बस ऐसा ही हुआ, जैसे माता-पिता के अस्तित्व को अस्वीकार करते हुए सतान के अस्तित्व को स्वीकार करना। दोनों समान रूप से युक्तिसगत हैं। भूत और भविष्य को अस्वीकार करने का अर्थ है वर्तमान को भी अस्वीकार करना। यह है शून्यवादियों का मत। पर मैंने आज तक ऐसा एक भी मनुष्य नही देखा, जो एक मुहूर्त के लिए भी शून्यवादी हो सके — मुख से कहना अवश्य बडा सरल है।"

दूसरा उत्तर यह है कि "सत्य की खोज करो। इस नित्य परिवर्तनशील नश्वर जगत् में क्या सत्य है इसकी खोज करो।"

स्वामीजी ने स्वयं इस दूसरे प्रश्न का उत्तर खोजा तथा उन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया, उसका अनुभव

किया। किन्तु सत्य के साक्षात्कार से कृतकृत्य हो वे शुकदेव की भाँति शांत तथा मौन होकर निर्विकल्प समाधि में डूबे न रहे अपितु शाक्यसिंह भगवान बुद्ध की भाँति बहुजनहिताय बहुजनसुखाय स्वानुभवलब्ध इस अमृतप्रदायी जीवन-दर्शन के प्रचार-प्रसार में अपने जीवन की आहुति दे दी।

स्वामीजी ने मनुष्य के स्वरूप के सबंध में जिन शाश्वत सत्यों का उद्घाटन किया है उन्हें सक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) संसार के सभी धर्मों में यह मान्यता पायी जाती है कि मनुष्य यह स्थूल देहमात्र नहीं है। इस स्थूल देह के पीछे एक और सत्ता है जिसका विनाश स्थूल शरीर के साथ नहीं होता। इस शरीर के विनाश के पश्चात् भी उसका अस्तित्व बना रहता है।

(२) मनुष्य केवल एक मामल जन्तु (Molluse) का क्रमविकास मात्र नहीं हो सकता। स्वामीजी कहते हैं—"प्रत्येक गति चक्राकार में होती है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से देखने पर भी यह दिखेगा कि मनुष्य केवल क्रमविकास का परिणाम है यह बात सिद्ध नही होती। क्रमविकास कहने के साथ ही साथ क्रमसकोच की प्रक्रिया को भी मानना पड़ेगा। असत् (कुछ नहीं) से कभी भी सत् (कुछ) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि मानव, पूर्ण मानव — बुद्ध मानव — ईसा मानव एक क्षुद्र मासल जन्तु का ही क्रमविकास हो तब तो इस क्षुद्र जन्तु को भी क्रमसकुचित बुद्ध कहना पड़ेगा। यदि ऐसा न हो तो ये सब महापुरुष फिर कहाँ से उत्पन्न हुए? असत् से तो कभी सत् की उत्पत्ति नही होती।"

न असतः विद्यते भावः न अभावः विद्यते सतः —गीता के

इस शाश्वत सिद्धांत के आधार पर स्वामीजी ने बहुचर्चित, बहुमान्य डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत की एक मौलिक भूल की ओर विश्व के विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया है।

वट के बीज में विशाल वट वृक्ष सन्निहित होता है जो अनुकूल परिवेश, खाद, जल आदि पाकर यथासमय विशाल वृक्ष के रूप में विकसित हो सकता है। यदि उस बीज में वृक्ष सन्निहित न होता तो कितना भी उत्तम परिवेश, खाद, जल आदि मिलकर कभी भी उस बीज को वृक्ष के रूप में विकसित न कर पाते। क्योंकि यदि ऐसा संभव होता तो रेत का कण बो देने पर भी वह वृक्ष उत्पन्न हो जाता, किन्तु वैसा होता नहीं है।

इसी आधार पर स्वामीजी ने हमें यह विज्ञानसम्मत सिद्धात दिया है कि जीवाणु (Protoplasm) में पूर्ण मानव, पूर्णपुरुष, अव्यक्त अवस्था में विद्यमान है। इसी अव्यक्त शक्ति को वेदान्त में ब्रह्म कहा गया है। यह ब्रह्म ही जीवन की विभिन्न अवस्थाओं, योनियों आदि से होकर क्रमश: स्वयं को अधिकाधिक अभिव्यक्त करने की चेष्टा कर रहा है। इस सत्य को जान कर यदि व्यक्ति ज्ञानपूर्वक, विधिवत अपने अन्तर्निहित इस अव्यक्त ब्रह्म को व्यक्त करने की चेष्टा करे तो वह अपनी जीवन यात्रा को अत्यन्त सुखद बना, प्रकृतिक विकास की तुलना में अत्यन्त शीघ्र ही पूर्ण आत्मविकास के चरम लक्ष्य पर पहुँच सकता है। स्वामी विवकेनन्दजी का जीवन-दर्शन हमें यही करने का आह्वान करता है — उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्राप्य वरान्निबोधत!!!

(३) तत्वमसि —"इस बहुत्वपूर्ण जगत् में जो उस एक को, इस परिवर्तनशील जगत् में जो उस अपरिवर्तनशील

को अपनी आत्मा की आत्मा के रूप में देखता है, अपना स्वरूप समझता है, वही मुक्त है, वही आनन्दमय है, उसी ने लक्ष्य की प्राप्ति की है। अतएव, जान लो कि तुम वही हो, तुम ही जगत् के ईश्वर हो — 'तत्त्वमसि'।"

"पर्वत की भाँति अटल रहो; तुम अविनाशी हो। तुम आत्मा हो। तुम्हीं जगत् के ईश्वर हो, कहो शिवोऽह! शिवोऽहं!! मैं सपूर्ण सच्चिदानन्द हूँ।"

मनुष्य का सच्चा स्वरूप स्वामी विवेकानन्दजी के दर्शन की धुरी है। मनुष्य तथा मनुष्य जीवन के सबध में स्वामीजी ने अनेक स्थानों पर अनेक बातें कही हैं। मनुष्य की गरिमा और महिमा उनके जीवन-दर्शन का एक आधारस्तंभ है। ऊपर के संक्षिप्त विवचन में उसका केवल संकेत मात्र किया गया है।

स्वामीजी ने मनुष्य के नित्यमुक्त, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य स्वरूप का साक्षात्कार किया था। आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति की थी तथा अद्वैत वेदान्त के चरम सत्य 'जीव ही ब्रह्म है' इस पर दृढ रूप से प्रतिष्ठित होकर घोषणा की थी —"पिंजड़े को तोड़ डालने वाले सिंह की भाँति तुम अपने बंधन तोड़ कर सदा के लिए मुक्त हो जाओ। तुम्हें किसका भय है। तुम्हें कौन बाँध कर रख सकता है? केवल अज्ञान और भ्रम, अन्य कुछ भी तुम्हें नही बाँध सकता। तुम शुद्धस्वरूप हो, नित्यानन्दमय हो।"

स्वयं के सबध में मनुष्य की धारणा उसके जीवन को बहुत गहराई से प्रभावित करती है। यदि मनुष्य की यह धारणा हो कि वह केवल हाड़-मांस का एक पुतला मात्र है, वह केवल शरीर ही है तो उसका जीवन भोगपरायण होकर रहेगा। वह चाहे या न चाहे उसे अपने मन और इन्द्रियो का

दास होकर रहना पड़ेगा। इस प्रकार उसका जीवन तृष्ण-तृप्ति की एक अंधी दौड़ होगी, जिसका परिणाम अशेष यत्रणा और अशांति ही होगी।

किन्तु, यदि सत्य की अनुभूति पर प्रतिष्ठित स्वामी विवेकानन्दजी के शाश्वत दर्शन पर विश्वास कर मनुष्य अपने संबध में यह धारणा कर ले कि वह नित्यमुक्त, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य आत्मा है, वह वस्तुत: परमात्मस्वरूप ही है तो उसी क्षण से उसके जीवन में उन्नति और महानता का द्वार खुल जायेगा। फिर वह व्यक्ति चाहे कितनी ही हीन दशा में क्यों न हो, यदि वह दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह, मास पर मास, वर्ष पर वर्ष इस धारणा को अपने मन में दृढ़ से दृढतर करता रहे तो निश्चित ही एक न एक दिन वह सभी प्रकार की दुर्बलताओं को जीतकर उन्नति और महानता के शिखर पर पहुँच जायेगा।

जगत्

दूसरा तत्व जो किसी भी सम्यक् जीवन दर्शन के लिए आवश्यक है — वह है जगत् सबधी धारणा। ससार के जिन भी दर्शनों ने इस इन्द्रियगम्य पथ भौतिक जगत् को सत्य माना है उन्होंने अन्तत: इस भौतिक जगत की ही उपासना की है — यह जगत् ही उनके लिए सर्वस्व रहा है अत: इस जगत् में उपलब्ध सुख सामग्रियों का संग्रह तथा उपभोग ही उनके जीवन का प्रयोजन रहा है। भौतिक समृद्धि ही उनका चरम लक्ष्य रहा है। भौतिक समृद्धि के लिए भौतिक शक्तियों का होना आवश्यक है, इसलिए इन्द्रियगम्य जगत् को ही सत्य मानने वाले लोगों ने अनादि काल से बाह्य प्रकृति को जीतकर उसकी उपासना कर असीम भौतिक शक्तियाँ प्राप्त करने का प्रयत्न किया है।

पौराणिक युग के हिरणकशिपु, इतिहास युग के रावण तथा उसके सहयोगी राक्षसगण, और हमारे युग के मदांध भौतिकवादी देश इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। स्वामीजी के समय में भी तत्कालीन वैज्ञानिक आविष्कारों से चमत्कृत लोगों का एक बहुत बड़ा दल था जो इस इन्द्रियगम्य जगत् को ही सत्य मानता था; उसी के अनुसार इन लोगों का जीवन भी पूर्णतः भौतिकवादी हो गया था।

स्वामी विवेकानन्द आधुनिक युग के आचार्य हो कर आये थे। आधुनिक युग विज्ञानप्रधान युग है; आज कार्य कारण श्रृंखला के आधार पर ही सभी वस्तुओं की परीक्षा की जाती है। स्वामीजी विज्ञान के मौलिक तत्त्वों से भलीभाँति परिचित थे। अतः जगत् की मीमासा करने के लिए उन्होंने जगत् के बाह्य रूप को भेदकर उसके मूल में जाने की चेष्टा की, जिसमें वे पूर्णतः सफल हुए।

युगाचार्य विवेकानन्दजी की यह एक विशेषता रही है कि उन्होंने जटिल से जटिल दार्शनिक तत्त्वों को बड़ी ही सरल भाषा में जन साधारण के सामने रखा। कार्य-कारण की मीमासा एक जटिल दार्शनिक विषय है। स्वामीजी ने उसे कितने सहज ढंग से हमारे सामने रखा है यह निम्न उदाहरण से स्पष्ट है — वे कहते हैं, "अब हम यह विचार करेंगे कि हम प्रश्न क्यों करते हैं? एक पत्थर गिरा और हमने प्रश्न किया—इसके गिरने का क्या कारण है? इस प्रश्न का औचित्य अथवा इसकी सभावना इस अनुमान अथवा धारणा पर निर्भर है कि जो कुछ होता है उसके पूर्व और कुछ हो चुका है। ...क्योंकि जब हम प्रश्न करते हैं कि यह घटना क्यों हुई, तब हम यह मान लेते हैं कि सभी वस्तुओं का सभी घटनाओं का एक कारण रहता ही है—

अर्थात् उसके घटने के पहले कुछ अवश्य हुआ होगा। इस पूर्ववर्तिता और परवर्तिता को ही निमित्त अथवा कार्य कारण भाव कहते हैं।"

जगत् के संबध में भी हमें यह मौलिक तथ्य स्मरण रखना होगा कि जगत् की उत्पत्ति भी शून्य से नहीं हुई है। इस जड़ जगत् की उत्पत्ति का एक कारण अवश्य है तथा वह कारण स्वयं जड़ नहीं है क्योंकि संसार की कार्य-कारण शृंखला हमें यह बताती है कि जड़ में उत्पादन क्षमता नहीं है। एक जड़ पदार्थ दूसरा कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता।

कारण सूक्ष्म कार्य स्थूल – सृष्टि का विश्लेषण करते हुए स्वामीजी ने हमें बताया है कि प्रत्येक पदार्थ किसी सूक्ष्म आकार से प्रारभ होकर तब स्थूल रूप में प्रकट होता है। वे कहते हैं —"प्रत्येक पदार्थ मानो किसी बीज से, किसी मूल उत्पादन से, किसी सूक्ष्म आकार से आरंभ होता है और स्थूल से स्थूलतर होता जाता है। कुछ समय तक ऐसा ही चलता है, और अन्त में फिर उसी सूक्ष्म रूप में उसका लय हो जाता है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि जगत् का यह स्थूल दृश्यरूप जगत् की व्याख्या के लिए, उसकी मीमांसा के लिए पर्याप्त नहीं है। जगत् जिस रूप में हमारे सामने उपस्थित है उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेने पर हम जगत् तथा जीवन की मौलिक समस्याओं को कभी भी नहीं समझ पायेंगे और इस कारण जगत् तथा जीवन की समस्याओं के समाधान का हमारा सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जायेगा।

कार्य-कारण अभिन्न – जगत् की व्याख्या करते हुए स्वामीजी ने एक और मौलिक सिद्धांत की ओर हमारा

ध्यान आकर्षित किया है, वह यह कि कार्य तथा कारण में कोई मौलिक भेद नहीं है। कारण ही कार्यरूप में प्रकट होता है तथा कालांतर में पुनः वह कारण में लीन हो जाता है। अपने एक व्याख्यान में स्वामीजी कहते हैं — "कार्य केवल कारण का रूपान्तर मात्र है। अतएव यह समस्त ब्रह्माण्ड शून्य में से नहीं उत्पन्न हो सकता। बिना किसी कारण के वह नहीं आ सकता; इतना ही नहीं, कारण ही कार्य के भीतर सूक्ष्म रूप से वर्तमान है।"

सृष्टि और प्रलय का चक्र— हमने देखा कि शून्य से किसी वस्तु का जन्म नहीं हो सकता। सभी वस्तुओं का एक कारण होता है। हमने यह भी देखा कि कार्य स्थूल तथा कारण सूक्ष्म होता है। हम देखते हैं कि सभी वस्तुओं का नाश होता है। अब प्रश्न आता है कि नाश होने पर क्या ये वस्तुएँ सर्वथा विनष्ट होकर शून्य में विलीन हो जाती हैं? नहीं। स्थूल वस्तु के नाश का अर्थ है उसका अपने कारण सूक्ष्म में विलीन हो जाना। महर्षि कपिल कहते हैं—"नाशः कारणलयः" — नाश का अर्थ है कारण में लय हो जाना। स्वामीजी बीज तथा वृक्ष का उदाहरण देकर यह तथ्य हमारे सामने रखते हैं —"बीज से वृक्ष होता है और वृक्ष पुनः बीज में चला जाता है। बस इसी तरह चल रहा है। इसका कहीं अन्त नहीं, ...समस्त अस्तित्व जो हम देखते, सोचते, सुनते और कल्पना करते हैं, जो कुछ हमारे ज्ञान की सीमा के भीतर है, यह सब इसी प्रकार चल रहा है, ठीक जैसे मनुष्य के शरीर में श्वास-प्रश्वास। अतएव समस्त सृष्टि इसी प्रकार चल रही है। ...समस्त ब्रह्माड समप्रणाली होने के कारण, सर्वत्र एक ही नियम लागू होगा। अतएव हम देखते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड एक समय अपने कारण में लय होने को बाध्य हैं।"

अपने कारण में लय हो कर यह ब्रह्माण्ड कुछ काल तक उसी अवस्था में रहता है—मानो सुप्त हो। जिस प्रकार बीज बोते ही तुरंत वृक्ष नहीं हो जाता, सूक्ष्म से स्थूल रूप में व्यक्त होने में समय लगता है। किंतु उस समय भी अव्यक्त सूक्ष्म कार्य व्यस्त रहता है। इसी विश्राम या सुप्त अवस्था का नाम प्रलय है। प्रलय के पश्चात् पुनः सृष्टि होती है। अतः ऐसा नहीं कि यह पृथ्वी या विश्व-ब्रह्माण्ड पहली बार उत्पन्न हुआ है तथा विनष्ट होने पर सदैव के लिए समाप्त हो जाएगा। सृष्टि-प्रलय का यह क्रम अनादिकाल से चल रहा है तथा अनंतकाल तक चलता रहेगा।

आदि अन्त समान है

हमने देखा कि प्रलय की अवस्था में यह ब्रह्माण्ड अपने सूक्ष्म कारण में विलीन हो जाता है। तब यह प्रश्न उठता है कि यह सूक्ष्म कारण क्या है? किसी वस्तु का आदि जान लिया जाय तो उसका अंत भी जाना जा सकता है। उसी प्रकार यदि अन्त जान लिया जाय तो आदि भी जाना जा सकता है। आधुनिक क्रम-विकासवाद हमें बताता है कि सृष्टि विकास के क्रम में चैतन्य (Consciousness) अंतिम वस्तु है। अब कार्य-कारण शृखला के अनुसार हम कह सकते हैं कि यदि चैतन्य अंतिम वस्तु है तो आदि में भी चैतन्य रहा होगा। अभी यदि वह व्यक्त रूप में है तो आदि में वह अव्यक्त रूप में था, किन्तु था अवश्य ही। इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी हमें बताते है —

"जड़वादी कह सकते हैं — अच्छा ठीक है, पर मनुष्य के जन्म के पहिले तो लाखों वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। उस समय तो ज्ञान का कोई अस्तित्व नही था। इस पर हमारा उत्तर यह है — हाँ व्यक्त रूप से चैतन्य नहीं था, लेकिन

अव्यक्त रूप से वह अवश्य ही विद्यमान था और यह तो एक मानी हुई बात है कि पूर्ण मानव रूप में प्रकाशित चैतन्य ही सृष्टि का अन्त है। तो फिर आदि क्या होगा? आदि भी चैतन्य ही होगा। पहिले वह चैतन्य क्रम-सकुचित होता है अन्त में वही फिर क्रम-विकसित होता है।"

अतः हम पाते हैं कि सृष्टि का आदि और अन्त समान हैं। एक ही वस्तु है — एक ही तत्त्व है।

सर्वं ब्रह्ममयं जगत्

विश्व के विचारकों, दार्शनिकों और धार्मिक व्यक्तियों के मध्य सहस्रों वर्षों से यह विवाद चल रहा है कि अखड अद्वय चैतन्य कैसे इन नाना रूपों में प्रकाशित हो रहा है। क्या वह खंडित हो कर नाना रूपों में प्रकाशित हो रहा है? या उसमें परिवर्तन घटित हुआ है? यह विषय आज भी मीमांसा का प्रश्न बना हुआ है। किन्तु विवर्तवाद, परिणामवाद, लीला आदि विभिन्न वादों और विचारों के मध्य स्वामी विवेकानन्द द्वारा दी गयी मीमासा आज के वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित तथा पूर्णतः तर्कसम्मत है, और इसी कारण यह मीमासा अत्यन्त समीचीन तथा बुद्धिवादी विचारशील लोगों में बहुमान्य है। स्वामीजी ने असदिग्ध शब्दों में घोषणा की है, "ब्रह्म जगत् है" (ज्ञानयोग, पृष्ठ १४०)। इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने एक रेखाचित्र के माध्यम से हमें समझाया है।

(क) ब्रह्म
(ग) देश, काल, निमित्त
(ख) जगत्

"यह ब्रह्म देश काल निमित्त में से होकर आने से जगत् बन गया है।...हम देश, काल, निमित्त रूपी काँच से ब्रह्म को देख रहे हैं, और इसी प्रकार नीचे की ओर देखने पर ब्रह्म हमें जगत् रूप में दिखता है।"

यहाँ हमें स्मरण रखना होगा कि जगत् से स्वामीजी का तात्पर्य केवल जड़ जगत् ही नहीं है, सूक्ष्म तथा आध्यात्मिक जगत् भी इसके अन्तर्गत हैं।

जगत् के सबध में स्वामी जी के विचारों का अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि आपात प्रतीयमान जगत न तो भौतिकवादियों की धारणानुसार इस भौतिक रूप में ही सत्य है और न ही अजातवाद के अनुसार त्रिकाल मिथ्या है और न ही मायावाद के अनुसार स्वप्नवत् मिथ्या है। इसके विपरीत स्वामीजी ने हमें जगत् के सबध में एक विधेयात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण दिया है, जिसके अनुसार एक ही अखड चैतन्य एक अवस्था विशेष में जगत् के रूप में प्रकाशित हो रहा है। स्वामीजी के ही शब्दों में, "तो हमने अब क्या देखा? यही कि जड़, शक्ति, मन, चैतन्य या दूसरे नामों से परिचित विभिन्न जागतिक शक्तियाँ उस विश्व व्यापी चैतन्य की ही अभिव्यक्ति है। जो कुछ आप देखते हैं, सुनते हैं या अनुभव करते हैं, सब उसी की सृष्टि हैं—ठीक कहें तो उसी का परिणाम है। और भी ठीक कहें तो सब कुछ स्वय प्रभु ही हैं।"

जगत् सबधी यह धारणा हमारे व्यावहारिक जीवन-दर्शन को एक दृढ आधार प्रदान करती है।

(शेष आगामी अक मे)

स्वामी विवेकानंद का युगकार्य

काका कालेलकर के साथ रवीन्द्र केलेकर की बातचीत

(स्वर्गीय काका कालेलकर के साथ अपने कुछ वार्तालापों को अपनी डायरी में लिपिबद्ध कर श्री रवीन्द्र केलेकर ने अपनी 'ज्ञाननिधिच्या सान्निध्यात' नामक मराठी पुस्तक के रूप में प्रकाशित कराया था। २० अप्रैल १९६९ ई. के दिन उनके बीच श्रीरामकृष्ण-विवेकानद विषय पर चर्चा हुई। यहां प्रस्तुत है उसी वार्तालाप का हिंदी रूपांतरण।)

धर्म पर सामाजिक दृष्टिकोण से चिंतन का प्रसग चल रहा था। मैंने पूछा—"इस दिशा में रामकृष्ण परमहस का कोई अवदान नहीं है क्या?"

काका साहब बोले—"विवेकानंद ने श्रीरामकृष्ण में इसका आरोप किया है। इसमें विवेकानंद की विनम्रता भी है और महानता भी। श्रीरामकृष्ण में उसके तत्त्व थे, पर विवेकानंद ने उन्हें दर्शनशास्त्र का रूप दिया।"

मैंने पूछा—"विवेकानंद की शक्ति किसमें अभिव्यक्त हुई है?"

काका साहब—"देश के साथ एकरूप होने में। वे और गांधीजी देश के साथ एकरूप हो गए थे। इतनी सी आयु में स्वामीजी ने कितना बड़ा कार्य किया। जितना ही मैं उनके बारे में चिंतन करता हूँ, उतना ही उनके प्रति मेरा आदर भाव बढता जाता है। फिर यह सब उन्होने किया, हिंदू धर्म में रहकर ही, इसे उन्होंने एक नई दिशा दी, अपना अलग पंथ नहीं बनाया।

"जिस कालखड में उन्होंने जगत् पर और विशेषकर इस देश पर प्रभाव डाला, मैं उसी काल में एक युवक था। स्वामीजी के पूर्व यह देश किस प्रकार विचार करता था और उनके बाद कैसा करने लगा, यह सारा परिवर्तन मैंने प्रत्यक्ष देखा है।"

फिर सहसा अंतर्मुख होकर वे कहने लगे—"अंग्रेजों को इस देश से निकालने का पहला प्रयत्न हम लोगों ने १८५७ ई. में किया था। पर उस समय हम ठीक ढंग से संगठित नहीं थे और हमारा निश्चय भी उतना दृढ़ नहीं था। हाँ, वह इतना साधारण भी नहीं था कि उसे 'विद्रोह' मात्र कहा जाए, परंतु उसमें इतनी प्रस्तुति भी न थी कि उसे 'स्वाधीनता-संग्राम' कहा जा सके। इस कारण हम लोग असफल रहे। वस्तुतः वह हमारी नैतिक पराजय थी। अंग्रेजों ने इस परिस्थिति का पूरा लाभ उठाया और अपने साम्राज्य की नींव (और भी) मजबूत कर ली। तत्पश्चात् इस देश के कितने ही प्रतिष्ठित लोगों ने अंग्रेजी राज्य का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया। उसकी प्रशंसा में स्तुति-स्तोत्र भी गाए जाने लगे। एक मराठी कवि ने गाया, 'इस धरातल पर अंग्रेज जैसा प्रभु कोई दूसरा नहीं।' हमारी अधोगति किस नीचाई तक पहुँची थी, इसका एक और भी उदाहरण मैं देता हूँ। महाराष्ट्र में जब पेशवाओं का शासन गया और अंग्रेजों का शासन दृढप्रतिष्ठ हो गया, उस समय अपने विजय का आनद मनाने के लिए अंग्रेजों ने उपहार बाँटे। उसे प्राप्त करने को कितने ही वेदसपन्न शास्त्री भी दौड़े गए थे। इतना हम अपना हृदय खो बैठे थे। अपना आत्मगौरव खो बैठे इस ऐसे राष्ट्र के समक्ष विवेकानद ने आत्मविश्वास, स्वाभिमान् निर्भयता, त्याग, वैराग्य, निःस्वार्थ सेवा आदि का आदर्श प्रस्तुत किया और उसकी ग्लानि दूर की। कितना महान् कार्य किया उन्होंने? इसीलिए मैंने कहा कि जब मैं उनके बारे में चिंतन करता हूँ, तो मेरा हृदय (उनके प्रति) भक्तिभाव से गदगद हो जाता है।"

मैंने कहा—"उनके पहले भी इस देश में बड़े-बड़े

आचार्यों तथा सर्व संतों ने वेदांत का काफी प्रचार किया था, परंतु विवेकानंद के कार्य का ही काफी व्यापक प्रभाव हुआ। ऐसा किस कारण हुआ होगा?"

काका साहब बोले—"उनके पूर्व धर्मजागृति का जो कार्य हुआ, उन सबका सार ईश्वरभक्ति, सदाचार, संतोष व नाम-माहात्म्य-इतने में ही आ जाता है। स्वामीजी ने इन सब के साथ ही तेजस्वी पुरुषार्थ, राष्ट्रीय विरासत, भौतिक ज्ञानार्जन तथा समाज सुधार-इन सब बातों पर भी जोर दिया। धर्मानुभूति के आधार पर संस्कृति में नवजीवन लाना, शिक्षा प्रणाली में राष्ट्रीयता का समावेश करना, उद्योग-धंधों को बढ़ाकर लोगों की आर्थिक स्थिति सुधारना – इन आग्रहों से युक्त जो जागृति इस देश में प्रारंभ हुई, उसके विवेकानद ही अग्रदूत थे।"

मैं—"उन्हें पाश्चात्य शिष्य मिले थे, यह भी तो उनके प्रभाव विस्तार का एक कारण हो सकता है।"

काका साहब—"हाँ, वह भी एक कारण है। अमेरिका जाने के पूर्व एक अज्ञात सन्यासी के रूप में उन्होंने पूरे देश का भ्रमण किया। अपनी इस यात्रा के दौरान उन्होंने देश की स्थिति की भी गहराई से जाँच-पडताल की और तभी उनके समक्ष देश के उद्धार का मार्ग स्पष्ट हुआ। उन्हें लगा कि जो राष्ट्र आत्मविश्वास खो बैठा है, उसके लिए प्रतिष्ठा की संजीवनी बाहर से लानी होगी। इसीलिए वे अमेरिका गए। वहाँ उन्हें शिष्य भी मिले और धन भी मिला।"

मैं—"रोमाँ रोलाँ ने उनकी जीवनी में लिखा है कि धन उन्हें कोई खास नहीं मिला।"

काका साहब—"पर निष्ठावान शिष्य तो मिले ; इस

बात का भी यहाँ के लोकमानस पर विशेष परिणाम हुआ। जहाँ गोरे लोग (अंग्रेज) ही हमारे मालिक और गुरु बने बैठे थे, वहाँ उन्ही लोगों में से कुछ को आकर इस तरह शिष्य भाव से सेवा करते देख (हमारे) लोगों की हीनभावना दूर होने लगी। इसे भी उनकी एक बड़ी उपलब्धि मानना चाहिए।"

मैंने पूछा—"देश को स्वाधीन कराने के लिए उन्होंने विशेष कुछ किया था क्या?"

काका साहब—"प्रत्यक्ष रूप से तो उन्होंने वैसा कुछ नहीं किया, परंतु अप्रत्यक्ष रूप से काफी किया है। तिलक ने उन्हें Patriotic Saint (देशभक्त सत) कहा था न?"

तदुपरात वे बोले—"अन्य बातें छोड़ दें, परतु हमें जो रवीन्द्रनाथ, अरविन्द और गाँधी ये तीन युगपुरुष मिले, मेरा मत है कि इनके निर्माण में भी विवेकानद का काफी बडा योगदान था। जब मैं इन तीनों के ही साहित्य और कार्यप्रवाह की ओर देखता हूँ, तो तीनों के युगकार्य में ही मुझे विवेकानद का स्पष्ट हाथ दीख पडता है।"

फिर वे मुझसे पूछने लगे—"तुमने भगिनी निवेदिता की The Master as I Saw him (मेरे गुरुदेव जैसा उन्हें देखा) नामक पुस्तक पढी है क्या?"

मैने कहा—"मेरी पढी हुई अत्युत्कृष्ट पुस्तकों में से वह एक है।"

काका साहब ने कहा—"विवेकानद को समझने के लिए हमें जैसे उनके पत्रों को पढना होगा, वैसे ही निवेदिता की इस पुस्तक को भी पढना होगा। इस पुस्तक से विवेकानद के जीवन का जो पहलू हमें देखने को मिलता है, उनके जीवन चरित से उसकी कल्पना नही मिलती। उनकी

The Web of Indian life (भारतीय जीवन की संरचना) नामक पुस्तक के समान विश्व-साहित्य में भी दूसरी कोई पुस्तक नहीं मिलती। निवेदिता के ऐतिहासिक, सामाजिक, शैक्षणिक तथा सास्कृतिक सेवा के फलस्वरूप विवेकानंद के कार्य को राष्ट्रीय स्वरूप मिला। स्वामीजी के शिक्षण के द्वारा जीवन-परिवर्तन और संस्कृति-सवर्द्धन के प्रयत्न का उन्होंने भलीभाँति विकास किया है।"

सच्ची वीरता

मेरे बच्चों को सबसे पहले वीर बनना चाहिए। किसी भी कारण से तनिक भी समझौता न करो। सर्वोच्च सत्य की मुक्त रूप से घोषणा कर दो। प्रतिष्ठा के नष्ट हो जाने या अप्रिय संघर्ष होने के भय से पीछे मत हटो। यह निश्चय जानो, यदि तुम प्रलोभनो को ठुकराकर सत्य के सेवक बनोगे, तो तुममें ऐसी दैवी-शक्ति आ जायगी, जिसके सामने लोग तुमसे उन बातों को कहते डरेंगे, जिन्हें तुम सत्य नहीं समझते। यदि तुम बिना किसी विक्षेप के लगातार चौदह वर्ष तक सत्य की अनन्य सेवा कर सको, तो तुम जो कुछ कहोगे, लोग उस पर विश्वास कर लेंगे। तब तुम जनता का सबसे बडा उपकार करोगे और उनके बन्धनों को छिन्न कर सम्पूर्ण राष्ट्र को उन्नत कर दोगे।

— *स्वामी विवेकानन्द*

स्वामीजी के नव-वेदान्त में माया की अवधारणा

प्रा. विनय कुमार वर्मा

शाक्यमुनि कॉलेज, बोधगया (बिहार)

विवेकानन्द वेदान्त दर्शन के अनुयायी थे। वेदान्त को वे सर्वोच्य दर्शन और सर्वोच्य धर्म मानते थे। प्राचीन वेदान्त के अनुसार विश्व में केवल एक ही तत्व है जिसे ब्रह्म नाम दिया जाता है। सगुण रूप में यही ईश्वर कहलाता है। ईश्वर ही जगत का स्रष्टा है। ब्रह्म के रूप में जगत सत्य है और ब्रह्म से अलग वह माया है।

स्वामीजी ने शकराचार्य के समान ही जगत को माया कहा है और माया का विशिष्ट अर्थ बताया है। वास्तव में जब व्यक्ति ससार के माया रूप को समझ लेता है, तभी वह मुक्त कहा जा सकता है। यह जड़ जगत ब्रह्म का अध्यारोप मात्र है। देश-काल-निमित से होकर ब्रह्म स्वयं जगत बन जाता है। माया हमें चारों ओर से घेरे हुए है और वह अति भयकर रूप में है। अत वास्तविक रूप में माया संसार की गति का तथ्यात्मक वर्णन है। इस पर विवेकानन्द ने स्वयं कहा है — "इस प्रकार हम देखते हैं कि माया संसार की व्याख्या करने के निमित कोई सिद्धान्त नहीं है। वह संसार की वस्तुस्थिति का वर्णन मात्र है।*

माया ससार की व्याम्ख्या करने के निमित कोई सिद्धान्त नहीं है। यह संसार की वस्तुस्थिति का वर्णन मात्र है — विरोध ही हमारे अस्तित्व का आधार है। अतः वह तो दोनों ही (शुभ और अशुभ) वादों का प्रचार करता है जो

* समकालीन भारतीय दर्शन (डॉ. रामनाथ शर्मा) पृ १५

घटना जिस रूप में घटती है, वह शुभ और अशुभ का मिश्रण है।

अतः माया हमारे चारों ओर व्याप्त है, अति भयंकर है, तथापि हमें माया से होकर ही कार्य करना पड़ता है। जो कहता है — 'संसार को पूर्ण शुभमय हो जाने दो, तब मैं कार्य करूँगा और आनन्द भोगूँगा।' यह बात उसी व्यक्ति की तरह है जो गंगा तट पर बैठकर कहता है कि जब सारा पानी समुद्र में पहुँच जायगा, तब मैं इसके पार जाऊँगा। लेकिन दोनों बातें असम्भव हैं। रास्ता माया के साथ नहीं है। वह तो माया के विरुद्ध है।हम प्रकृति के सहायक होकर नहीं, वरन् प्रकृति के प्रतियोगी होकर जन्मे हैं। मानव जाति का इतिहास तथाकथित प्राकृतिक नियमों के साथ लगातार संग्राम का इतिहास है। और अन्त में मनुष्य ही प्रकृति पर विजय प्राप्त करता है।*

विवेकानन्द का माया-सम्बन्धी विचार अद्वैत वेदान्त का ऋणी है ही, फिर भी वह सर्वथा शंकर के माया जैसा नहीं है।शंकर के अनुसार माया वह शक्ति है, जो भ्राति उत्पन्न करती है तथा जगत् को सत् समझना ही भ्राति है। शंकर की तरह स्वामीजी भी स्वीकार करते हैं कि जगत के आर्विभाव एवं परिवर्तन का मूल आधार माया ही है, परन्तु वे माया को अनिवार्यतः भ्राति जगत नहीं कहते हैं। विवेकानन्द के अनुसार माया जगत के एक विशेष तथ्य का सूचक है।

वेदान्त में यह कहा गया है कि माया ईश्वर की वह शक्ति है जिससे जगत निरूपित है। विवेकानन्द माया को

---

* विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ ५८

ईश्वरीय शक्ति मानते हैं। वह अनिवार्यतः न शुभ है, न अशुभ; बल्कि इन दोनों से तटस्थ है। यह तटस्थता ही माया की विशेषता है।*

मायावाद अद्वैत वेदान्त का एक आधारभूत सिद्धान्त है। माया का बीजरूप हमें वैदिक संहिताओं में भी मिलता है और इनका पूरा विकास उपनिषदों में हुआ है। लेकिन किसी न किसी रूप में यह सहिताओं में भी विद्यमान है।

हमारा जन्म ही माया में हुआ हैं। इसी में हम जीवित रहकर सोच-विचार करते हैं और स्वप्न भी देखते हैं। इसी में हम दार्शनिक, साधु होते हैं, और कभी दानव या देवता हो जाते हैं। अतः विचारों के रथ पर चढ़कर चाहे जितनी दूर जाओ, अपनी धारणा को ऊँचे से ऊँचा बनाओ, परन्तु वह सब माया के अन्तर्गत ही है।

जीवन के अनन्त सागर में प्राणी अपना मार्ग बनाते हैं, आगे बढ़ते जाते हैं, और असीम विस्तार उसके परे होते हैं फिर भी वे चलते रहते हैं और अन्त में मृत्यु आकर उन्हें इस धरती से उठा ले जाती है। विजय और पराजय कुछ भी निश्चित नहीं है और यही माया है।

स्वामी विवेकानन्द अपने नव-वेदान्तवाद में एक गभीर तत्त्व की ओर सकेत करते हैं और यह वह कि माया-प्रपच के पीछे एक आत्मा हमेशा विराजमान है, जो माया का स्वामी है। पर जो माया के अधीन नहीं है वह भी अन्ततः माया के अन्दर आ ही जाता है। माया अपरिवर्तनीय, अचल, अनन्त सता नहीं है। पर इसको अस्तित्वहीन भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह वर्तमान

* समकालीन भारतीय दर्शन (डॉ वसत कुमार लाल), पृ २२

है और इसी के साथ मिलकर हमें कार्य करना होगा। इस प्रकार यह सत् और असत् का मिश्रण है।*

माया का अस्तित्व ब्रह्म के उपर आश्रित है, पर ब्रह्म माया के उपर आश्रित नहीं है। वेदान्त की भाषा में इसे तादात्म्य कहते हैं। माया की पूर्ण व्याख्या करते हुए स्वामीजी कहते हैं, "आत्मव्याघात ही इसका स्वभाव है। संसार की प्रत्येक वस्तु विरुद्ध स्वभाव मे युक्त है। जहाँ मंगल है वहीं अमंगल है, जो हँसता है वही रोता है, जहाँ जीवन है वहीं मृत्यु की छाया उसका अनुसरण कर रही है। यह क्रम कभी भी बदला नहीं जा सकता और यही माया है। अत सम्पूर्ण संसार ही शुभ और अशुभ का यौगिक है।"

माया सत् का आन्तरिक विरोध न होकर केवल उसका साधारण विरोध ही है। यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म पूर्ण सत् है और माया पूर्ण असत् है। वास्तव में माया सत् और असत् का मिश्रण है।बौद्ध दर्शन में भी कहा गया है कि संसार में सब कुछ भ्रम है। इसके विपरीत अद्वैत वेदान्त यह शिक्षा देता है कि भ्रम में भी सत् निहित है। मायावाद का सिद्धान्त मनुष्य, जीवन और जगत के सापेक्षिक अस्तित्व का प्रतिपादन करता है।**

इस प्रकार हमने देखा कि स्वामी विवेकानन्द की माया-सम्बन्धी अवधारणा निराशावादी न होकर पूर्ण आशावादी तथा सकारात्मक है और यही उनके नव-वेदान्तवाद का वैशिष्ट्य है।

————

* विवेकानन्द साहित्य, खण्ड २, पृ ७३- ८४

** समकालीन भारतीय दर्शन (डॉ लक्ष्मी सक्सेना) पृ ७०-१

संन्यासी का गीत

स्वामी विवेकानन्द

(अमेरिका के सहस्रद्वीपोद्यान में १८९५ ई. की जुलाई में स्वामीजी ने 'The song of the Sannyasin' शीर्षक अपनी सुप्रसिद्ध अग्रेजी कविता रची थी। प्रस्तुत है उसी का गेय काव्य रूपान्तरण, जो हिंदोल, धानी, शकरा आदि रागों में तथा कहरवा ताल में गायी जा सकती है। इसके अनुवाद में बँगला रूपान्तरण से भी किंचित सहायता ली गई है। —सं.)

छेड़ दो संन्यासी वह तान
हिमालय से उत्थित जो गान।
गुँजा डालो इस ध्वनि में व्योम
ॐ तत्सदोम् ॐ तत्सदोम॥

गहन वन विजन पहाड़ प्रदेश
जहाँ ना पाप-ताप का लेश।
ध्वनित हो तव प्रशान्त संगीत
जगत् के कोलाहल हों भीत॥
काम-कंचन या यश की प्यास
फटकती हो ना जिसके पास
त्रिवेणी जहाँ सत्-चिद्-आनन्द
स्नान करते शुभ सज्जनवृन्द॥गुँजा.॥

तोड़ डालो निज शृंखल-मोह
स्वर्ण निर्मित हो अथवा लौह।
भला या बुरा, प्रीति या द्वेष
त्याग सब द्वन्द्व दूर कर क्लेश॥
दास है दास कदापि न मुक्त
प्रताडित होता अथवा भुक्त।
भले ही सोने की जजीर
तोडकर वह बन्धन भी धीर॥गुँजा॥

छलावा तिमिर व्याप्त सब ओर
क्षीण आभा दुख देती घोर।
पिपासा जीवन की अतृप्त
जीव को किये सदा आकृष्ट।।
खींचती रहती बिना विराम
जन्म से मृत्यु, मृत्यु से जन्म।
विजय पा लो निज मन को जीत
न हारो कभी, न होना भीत।।गुँजा।।

तत्त्व यह जग में सर्वविदित
कर्म के फल होते निश्चित।
पुण्य के मधुर पाप के तिक्त
नहीं कोई भी नियममुक्त।।
कि जब तक नाम और आकार
शृखला सकते नहीं निवार।
सत्य है, तदपि सभी के पार
आत्मा नित्यमुक्त अविकार।।गुँजा।।

पिता माता सुत पत्नी मित्र
सभी हैं मिथ्या स्वप्न विचित्र।
जानते नहीं लोग यह सत्य
आत्मा लिंगविहीन अमर्त्य।।
नहीं कोइ पिता पुत्र अरि मित्र
व्याप्त है आत्मतत्त्व सर्वत्र
एक अद्वैत अखण्ड अरूप
'वही तुम हो' बिन संज्ञा-रूप।।गुँजा।।

तत्त्व अद्वैत सभी में व्यक्त
आत्मा ज्ञाता औ चिरमुक्त।
उसी के भीतर माया स्वप्न
देखती नाना भाँति निमग्न।।
एक वह साक्षी मात्र अरूप
प्रकृति-जीवों का लेता रूप
'वही तुम हो' लो इसको जान
अभय हो गाओ मधुमय गान।।गुँजा.।।

ढूँढते कहाँ मुक्ति आलोक
इसी जग में अथवा परलोक।
पुस्तकों, मन्दिर में या चर्च
तुम्हारी खोज रहेगी व्यर्थ।।
तुम्हारे हाथों ही वह सूत्र
खींचती है जो तुमको मित्र।
अत: कर खेद हृदय का नाश
छोड दो अपना बन्धनपाश।।गुँजा।।

कहो 'सब लोग शान्ति में लीन
और मुझसे भी हों भयहीन।
सभी जो जीव—उच्च या निम्न
व्याप्त मैं आत्मा रूप अभिन्न।।
त्याग करता हूँ जीवन-स्वाद
इसी जग का या इसके बाद।
स्वर्ग या नरक, सर्व भय आस'
काट इस भाँति मोह के पाश।।गुँजा।।

रहे जीवित या जाय शरीर
करो परवाह न इसकी वीर।
पूर्ण हो चुका देह का कर्म
करे प्रारब्ध अद्य निज धर्म॥

करे चाहे कोई मालादान
कि अथवा पदप्रहार अपमान।
वस्तुतः निन्दक निन्दित एक
प्रशंसक और प्रशसित एक॥
करो इस भाँति स्वमन को शान्त
छेड़ दो निज सगीत प्रशान्त॥गुँजा॥

वहाँ होता न सत्य आभास
जहाँ हो काम-लोभ-यश आस।
पूर्णता कभी न आए पास
नारि में जिसको पत्नी-भास॥
अल्प भी जिसमें संग्रह-बोध
कि अथवा जो करता हो क्रोध।
बन्द है उसका माया द्वार
त्याग, पर तुम हो जाओ पार॥गुँजा॥

करो मत अपने घर की साध
नहीं गृह तुमको सकता बाँध।
गगन छत जान बिछौना घास
खाद्य जो आए बिना प्रयास॥
स्पर्श कर सके न आत्मा आद्य
भला या बुरा, पेय औ' खाद्य
निरन्तर चलते रहना बन्धु
नदी की भाँति, लक्ष्य हो सिन्धु॥गुँजा॥

अल्प लोगों का सत्य उपास्य
शेष करते कटाक्ष व हास्य
ध्यान मत देना उनकी ओर
करो उन्मुक्त भ्रमण सब छोर।।

हाथ दो सबको सेवायुक्त
घोर माया से करने मुक्त
न दुख से भय हो, ना सुख आस
उभय को पार करो सायास।।गुँजा।।

इस तरह कर्मशक्ति हो क्षीण
आत्मा हो चिर बन्धनहीन।
रहित मै, तुम, नर, ईश्वर भेद
जन्म व मृत्यु चक्र को छेद।

सभी कुछ आत्मा की अभिव्यक्ति
जगत सच्चिदानन्द की शक्ति।
वही तुम हो लो इसको जान
छेड़ दो अपनी निर्भय तान।।गुँजा।।

सत्संग

पवित्र व्यक्तियों का सपर्क शुभ है। यदि तुम पवित्र लोगो के निकट जाओगे, तो वहाँ की हर वस्तु मे पवित्रता बहती हुई पाओगे।

—स्वामी विवेकानन्द

मानस-रोग (१९/१)

पंडित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानंद जयती समारोह के अवसरों पर पंडितजी ने 'रामचरितमानस' के अतर्गत 'मानस-रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उनके उन्नीसवें प्रवचन का पूर्वार्द्ध है। टेपबद्ध प्रवचन को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेंद्र तिवारी ने किया है जो सप्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं।—स.)

रामकथा के अंत में गरुड़जी के द्वारा काकभुमुण्डि से सात प्रश्न किये गये। वे सातों प्रश्न मानव जीवन से पूरी तरह से जुड़े हुए हैं। उनमें से सातवाँ और अतिम प्रश्न है, वह तो पूरी तरह से हमारे जीवन के सत्य को प्रकट करने वाला है। वह प्रश्न है—

> मानस रोग कहहु समुझाई।
> तुम्ह सर्बग्य कृपा अधिकाई।। ७/१२१/७

गरुड़जी ने काक भुसुण्डि से कहा—आप सर्वज्ञ हैं, आपके अंत:करण में करुणा की अधिकता है, आप कृपाकर मानस रोगों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। और छ: प्रश्नों का उत्तर देने के बाद काकभुमुण्डि जी मानस रोगों का निरूपण करते हैं, आयुर्वेद की पद्धति से उनका निदान प्रस्तुत करते हैं। अनादिकाल से व्यक्ति और समाज के सामने समस्याएँ आती रही हैं और उन समस्याओं का समाधान महापुरुषों के द्वारा देने की चेष्टा हुई है। ये समस्याएँ केवल किसी एक क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, अहकार, व्यक्ति, समाज को लेकर हमारे सामने आती हैं। और शरीर के रोगों के सन्दर्भ में जैसे विभिन्न प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियाँ प्रचलित हैं और प्रत्येक पद्धति की अपनी मान्यताएँ और धारणाएँ हैं, राजनीति के क्षेत्र में भी सामाजिक निर्माण के लिए विविध वाद प्रचलित हैं, इसी प्रकार मनुष्य के अत:करण के सबध में भी विभिन्न प्रकार की

पद्धतियों का वर्णन महापुरुषों द्वारा हमारे शास्त्रों में किया गया है। और यदि हम इस दृष्टि से विचार करने बैठें कि इनमें से कौन सी पद्धति श्रेष्ठ है तो यह एक ऐसा जटिल विवाद है कि जिसका कभी निपटारा ही नहीं हो सकता। विभिन्न विचारकों और महापुरुषों ने अपने-अपने वाद प्रस्तुत किये हैं और ऐसी पद्धति से किये हैं कि अवश्य ही वे बडे तर्कसगत प्रतीत होते हैं। ऐसी परिस्थिति में किसी को स्वीकार करें और किसी को स्वीकार न करें ऐसा संभव नहीं। किंतु फिर भी व्यक्ति के सामने यह समस्या तो आती ही है कि उसे उन समस्त वादों में से किसी न किसी पद्धति का आश्रय लेना ही पड़ता है। यहाँ पर यह एक बड़ी जटिल समस्या है कि व्यक्ति के जीवन में आग्रह होना चाहिए या नहीं? तो उसका उत्तर है कि अनाग्रह ही विवेक की चरम उपलब्धि है-"बुद्धि फलमनाग्रहम्"। व्यक्ति के अंत करण में विवेक का उदय हो जाने पर उसके जीवन में आग्रह समाप्त हो जाना चाहिए। लेकिन इस अनाग्रह में एक बड़ी जटिल समस्या है। मान लीजिए किसी व्यक्ति का यदि आग्रह हो कि सारी चिकित्सा-पद्धतियों में केवल उसी की चिकित्सा-पद्धति श्रेष्ठ है, तो यह तो विवेक का लक्षण नहीं माना जाता। किंतु दूसरी ओर व्यक्ति जब चिकित्सा करने चलेगा, रोग के लिए दवा करने चलेगा तो ऐसी परिस्थिति में उसको किसी न किसी प्रकार का आग्रह स्वीकार करना पडेगा। इस प्रकार यहाँ आग्रह और अनाग्रह का बड़ा विचित्र समन्वय है। अभिप्राय यह है कि विवेक में तो अनाग्रही होना चाहिए। इसी अनाग्रह का दर्शन भगवान श्रीरामकृष्ण देव ने विविध साधना पद्धतियों की चरम उपलब्धि के माध्यम से प्रगट किया। उन्होंने बताया कि

विविध पद्धतियों के द्वारा उन्हें एक ही सत्य का साक्षात्कार हुआ। लेकिन, इतना होते हुए भी व्यकित के सामने एक प्रश्न रह जाता है कि जब वह अपने लिए किसी पद्धति का चुनाव करेगा तो यत्किंचित आग्रह किए बिना वह उस पद्धति को स्वीकार नहीं कर सकेगा। यद्यपि आग्रह जहाँ होता है, वहाँ पर प्रत्येक व्यकित यही कहता है कि हमारी जो मान्यता है वही वैज्ञानिक है और दूसरों की अवैज्ञानिक। लेकिन समन्वय का अभिप्राय यह है कि हम इसे पहले समझ लें, जान लें तथा मान लें कि सभी पद्धतियाँ सही और वैज्ञानिक हैं। अगर गहराई से विचार करके देखें तो ऐसा प्रतीत होता है कि किसी न किसी सन्दर्भ में या किसी न किसी दृष्टि से प्रत्येक मान्यता के पीछे एक बडा बल है, एक बड़ा तर्क है। लेकिन इतना होते हुए भी जब हम अपने लिए चुनाव करने चलेंगे तो किसी एक के प्रति आग्रह अवश्य होगा। उसी प्रकार जैसे, एक रोगी यदि यह जान भी ले कि सारी चिकित्सा पद्धतियाँ समान रूप से उपादेय हैं, फिर भी अंत में उसे यह निर्णय करना पड़ता है कि हम इस रोग के लिए किसी चिकित्सा-पद्धति का आश्रय लें। और जिस पद्धति का हम चुनाव करते हैं, उसकी जो मान्यताएँ और औषधियाँ हैं, उन्हें भी हम स्वीकार करते हैं। पर इस चुनाव की भी एक कसौटी है। कसौटी यह नहीं कि कौन सी पैथी ठीक है, बल्कि सबसे बड़ी कसौटी यह है कि व्यक्ति को स्वस्थता किससे मिलती है। स्वस्थता ही कसौटी है। ईश्वर के सन्दर्भ में भी रामचरितमानस में भक्तों ने एक बडी मधुर बात कही है। जब यह तर्क-वितर्क चला कि ईश्वर कैसा है, तो इसका भी वही समाधान निकला। सभी लोगों ने ईश्वर के अलग-अलग रूप बताए। पर भक्तों ने इसे

एक-दूसरे ढंग से कहा। उन्होंने कहा—भाई, इस विषय में बहस करने और उलझने से कोई लाभ नहीं है कि ईश्वर कैसा है, हमें तो बल्कि यह निर्णय करना है कि हमें कैसा ईश्वर चाहिए। हमें जिस ईश्वर की आवश्यकता है, वह तो हमारे संस्कार और रुचि से जुड़ा हुआ है। हम व्यर्थ ही विवाद में पड़कर परस्पर उलझ रहे हैं। हम तो अपनी इच्छानुसार ईश्वर का चुनाव करते हैं। इसलिए जहाँ बहुत से लोग इस विवाद में उलझे रह जाते हैं कि ईश्वर का वास्तविक स्वरूप क्या है, निराकार है या साकार, निर्गुण है या सगुण, सगुण निराकार है या निर्गुण निराकार, एक ही है या दोनों, या सब? अब अगर आप इसे भक्त की दृष्टि से देखें तो किस तरह देखेंगे? भक्त क्या देखता है? मनु की साधना के सन्दर्भ में आता है कि मनु तपस्या करते हैं, वे ईश्वर का साक्षात्कार करना चाहते हैं, पर उनके सामने ईश्वर नहीं आते। लेकिन उनकी साधना की चरम परिणति यह है कि आकाशवाणी होती है, मनु को सुनाई पड़ा, 'क्या चाहते हो?'—

माग़ु माग़ु बरु भै नभ बानी।
परम गभीर कृपामृत सानी।। १/१४५/६

मनु ने कहा कि मैं दर्शन चाहता हूँ। किसका दर्शन चाहते हो? उन्होंने कहा—ईश्वर का, पूछा गया—किस रूप में दर्शन चाहते हो? तो एक बडा ही सुन्दर शब्द मनु ने सुझाया। और वह शब्द भगवान के सन्दर्भ में भक्तों का दिया हुआ बड़ा प्रिय शब्द है। उसे रामचरित मानस में दो तरह से कहा गया है। जब किसी व्यक्ति के विषय में विवाद होने लगे कि वह व्यक्ति कौन है? द्वापर युग का व्यक्ति है या त्रेता युग का? इतिहास का वह कौन सा पात्र है? और

अलग-अलग व्यक्तियों ने अलग-अलग नाम बताया। किसी ने कहा मैं उन्हें जानता हूँ, मैंने अपनी आँखों से देखा है, वे भीम हैं। दूसरे ने कहा—वे अर्जुन हैं। तीसरे ने कहा—वे लक्ष्मण हैं। इस तरह अलग-अलग व्यक्तियों ने अलग-अलग दावा किया। अब इस विवाद का निर्णय कैसे हो कि वे वास्तव में कौन हैं? तो चलकर हम उन्हीं से पूछ लें कि वे कौन हैं। उनसे जाकर पूछा गया—"आपके बारे में हम लोगों में मतभेद है, कोई निर्णय नहीं हो पा रहा है अतः आप स्वयं ही बताइए कि आप कौन हैं?" तो उन्होंने बहुत सुन्दर उत्तर दिया। क्या? उन्होंने कहा—भाई मैं तो अभिनेता हूँ। नाट्यमंच पर जिस रूप में उतार दीजिए, मैं उतरने के लिए तैयार हूँ। आप मुझे नाटक में भीम बना दीजिए तो भीम बन जाऊँगा, अर्जुन बना दीजिए तो अर्जुन। भगवान के ये विविध रूप क्यों हैं? कौन सा रूप सत्य है? जिसने जिस रूप में देखा है, वह उसी रूप को सही कह रहा है। लेकिन, रामायण में यह बात बड़े सुन्दर ढंग से कही गई है—

जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ।। ७/७२/ख

अभिनेता की विलक्षणता यह है कि रंगमंच पर उसे जिस रूप में प्रस्तुत किया जाता है, वह उसे स्वीकार करते हुए उसी प्रकार का अभिनय दिखाते हुए दर्शकों के आनंद की वृद्धि करता है; पर उस अभिनेता की विशेषता यह है कि वह इन समस्त नाटकों में भाग लेते हुए भी, जब हमें विभिन्न पात्रों के रूप में दिखाई देता है, तो भी स्वयं को वह उससे अलग एक अभिनेता के रूप में देखता है। उसकी अपनी किसी पात्रता में आसक्ति नहीं है। इसीलिए तो

बिल्वमंगल जब भगवान राम के मन्दिर में गये और उन्होंने भगवान से कहा कि आप बड़े सुन्दर लग रहे हैं, पर जरा धनुष-बाण हटाकर हाथ में वंशी ले लीजिए तो तुरन्त उन्होंने धनुष-बाण त्यागकर हाथ में वंशी ले ली। और इसी तरह गोस्वामी जी जब वृन्दावन गये और मन्दिर में जाकर भगवान श्रीकृष्ण का दर्शन किया तो उनके सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए बोले कि आप बड़े सुन्दर तो लग रहे हैं, पर हाथ में थोड़ा धनुष-बाण ले लीजिए। और भगवान वंशी छोड़कर हाथ में धनुष-बाण ले लेते हैं। इस तरह वे तो इतने बढ़िया अभिनेता हैं कि बिल्वमंगल की माँग पर धनुष-बाण छोड़ वशी धारण कर लेते हैं और गोस्वामी तुलसीदास की माँग पर वंशी छोड़कर धनुष-बाण धारण कर लेने हैं। यही उस अभिनेता की विलक्षणता है।

इसका अभिप्राय यह है कि उस ईश्वर को हर व्यति ने अपने अत करण के मंच पर, अपने जीवन में जिस रूप में देखना चाहा, ईश्वर ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके स्वयं अपने आपको उसी रूप में प्रदर्शित कर दिया। मानो एक नट और अभिनेता में जो विलक्षणता है, वही विलक्षणता ईश्वर में है। रामचरितमानस में एक और दृष्टान्त है, वह भी मनु के ही प्रसंग में है, मनु का ही शब्द है। जैसे किसी वृक्ष के सम्बन्ध में विवाद हो कि यह कौन सा वृक्ष है? तो निर्णय यह हुआ कि उस वृक्ष के फल से अनुमान करना चाहिए — 'फलेन परिचीयते'। फल को देखकर वृक्ष का पता चल जाएगा। तब एक-एक व्यक्ति क्रम से वृक्ष के पास गये और फल लेकर लौटे। लेकिन इससे विवाद का निपटारा नहीं हुआ। क्यों? जितने व्यकित फल लेकर लौटे, उन सबके हाथ में अलग-अलग फल थे। और जिसके हाथ में जो फल

था, वह उसी का वृक्ष कह रहा था। और सचमुच इससे बड़ प्रमाण और क्या हो सकता था कि वह फल उसी वृक्ष से वह स्वयं लेकर आ रहा है। और परिणाम यह हुआ कि विभिन्न प्रकार के फल लेकर लौटने वाला हर व्यक्ति यह दावा करने लगा कि जो फल उसके हाथ में है, उसी का वह वृक्ष है। कोई कह रहा था आम का वृक्ष है, कोई कह रहा था अमरूद का है, कोई इमली का, कोई केले का। अन्त में किसी सन्त से पूछा गया। सन्त ने कहा—भाई, वह तो कल्पवृक्ष है। उसके नीचे जाकर जिसने जो कल्पना की, उसे वही फल मिला। ईश्वर भी ऐसा ही है। वह कल्पतरु है। अपनी कल्पना ही उसमें दिखाई देती है। वैसे तो कल्पना असत्य को कहते हैं, जिसका कोई अस्तित्व नहीं होता। लेकिन कल्पना जब कल्पतरु से जुड़ जाती है तो सत्य हो जाती है। कल्पतरु की विलक्षणता यही है कि उसमें कल्पना को सत्य करने का सामर्थ्य है। (क्रमश)

●

ईश्वर प्राप्ति

भगवान लम्बी-चौडी बातों के द्वारा नही मिलता। बौद्धिक शक्ति के द्वारा भी वह नहीं मिलता। विजेता की अतुल शक्ति द्वारा भी वह नहीं प्राप्त होता। पर .ो व्यक्ति विश्व के मूल रहस्य को जानता है और वह समझता है कि उन परमात्मा के अतिरिक्त अन्य सभी कुछ नाशवान है, केवल उसी के पास परमा.... .कट होता है, दूसरों के पास नहीं।

—स्वा.. ..कानन्द